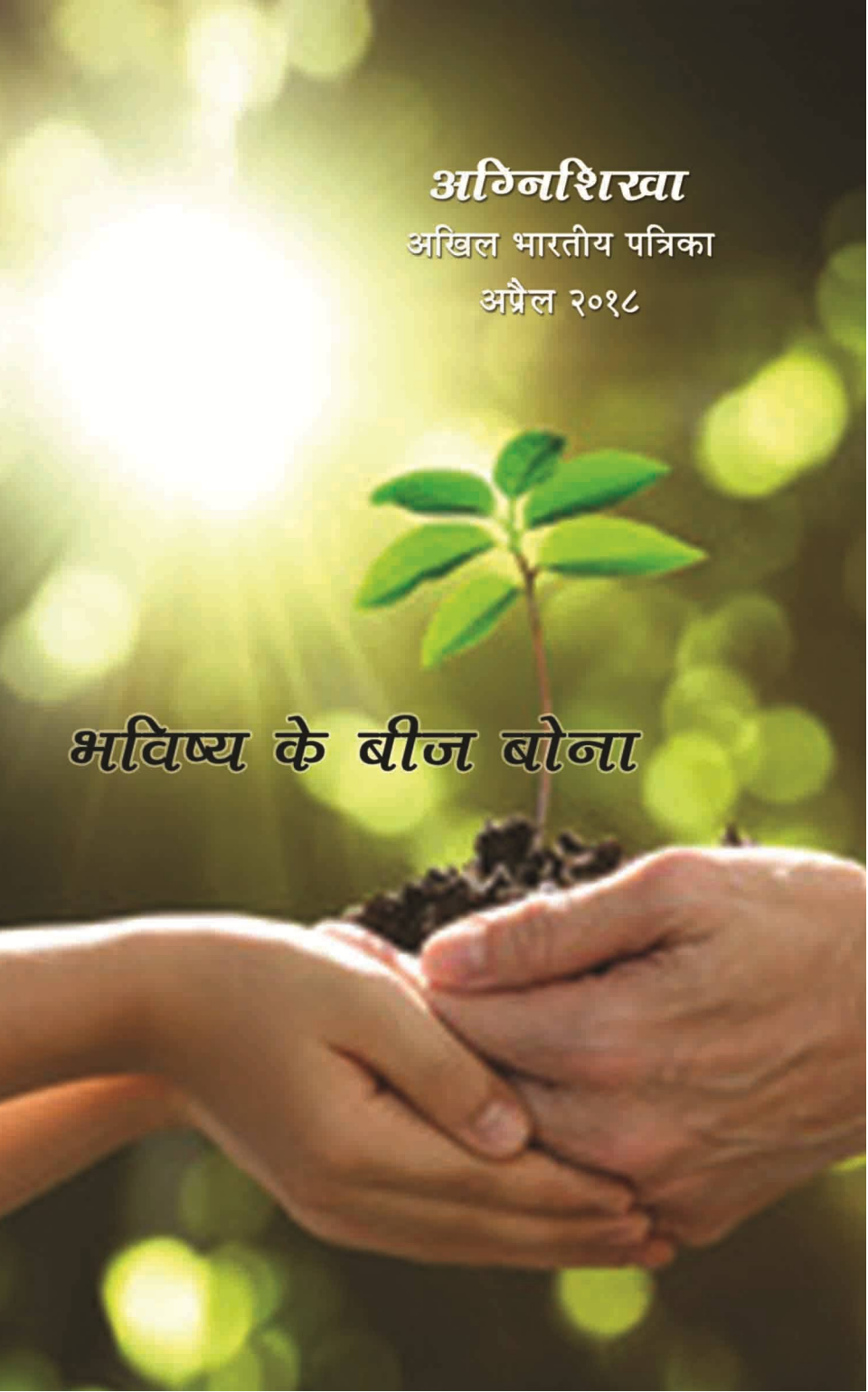
अग्निशिखा
अखिल भारतीय पत्रिका
अप्रैल २०१८
भविष्य के बीज बोना

विषय-सूची

भविष्य के बीज बोना
(श्रीमाँ के वचन)

सन्देश/सम्पादकीय	३
नयी शिक्षा के बीज	५
एक नयी चेतना के लिए नयी शिक्षा	१६
नवीन पथ	२३
अन्तरात्मा पर आधारित शिक्षा	४१
दैनन्दिन जीवन का विद्यालय	४७
शिक्षा के सूत्र	४८

'पुरोधा'

फ़ादर फ़लैनैगन की अग्नि-परीक्षा — फूल्टन उर्सलर ५१

अग्निशिखा

श्रीअरविन्द सोसायटी की मासिक पत्रिका

वार्षिक शुल्क : एक वर्ष—१८०रु.; तीन वर्ष—५२०रु.; पाँच वर्ष—८६०रु.

अधिष्ठाता : श्रीअरविन्द सोसायटी

मुद्रक : स्वाधीन चैटर्जी, श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस

प्रकाशक : प्रदीप नारंग, श्रीअरविन्द सोसायटी

प्रकाशक स्थल : सोसायटी हाउस, ११ सैं मार्तैं स्ट्रीट, पुदुच्चेरी ६०५००१

मुद्रण-स्थल : श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, नं. ३८, गूबैर ऐवेन्यू, पुदुच्चेरी ६०५००१, भारत

सम्पादिका : वन्दना

Registered with the Registrar of Newspapers for India: No. 18135/70

दूरभाष संख्याएँ (०४१३) २३३६३९६-९७-९८

Email: info@aurosociety.org

Website: www. aurosociety.org

सन्देश

शाश्वत यौवन का रहस्य है, हर क्षण नये जीवन में पुनरुज्जीवित होना।
—श्रीमाँ

सम्पादकीय : आश्रम-विद्यालय, यानी श्रीअरविन्द अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षाकेन्द्र की ७५हवीं जयन्ती २०१८ में मनायी जा रही है। इस अंक में हम श्रीअरविन्द तथा श्रीमाँ के शिक्षा-सम्बन्धी लेख दे रहे हैं। ये नींव के वे पत्थर हैं जिन पर आज की मानवता आगामी कल की अतिमानवता का भवन खड़ा कर सकेगी। श्रीअरविन्द अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षाकेन्द्र की ऐतिहासिक भूमिका यह रही :

श्रीअरविन्द अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षाकेन्द्र

२ दिसम्बर १९४३ को माताजी ने लगभग बीस बच्चों को लेकर बाक़ायदा विद्यालय का आरम्भ किया। वे स्वयं भी पढ़ाती थीं। अगले सात वर्षों में धीरे-धीरे विद्यार्थियों की संख्या बढ़ती गयी।

२४ अप्रैल १९५१ को माताजी की अध्यक्षता में एक सम्मेलन हुआ जिसमें एक "अन्तर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय केन्द्र" स्थापित करने का निश्चय किया गया। ६ जनवरी १९५२ में उन्होंने 'श्रीअरविन्द अन्तर्राष्ट्रीय विश्व-विद्यालय केन्द्र' का उद्घाटन किया। १९५९ में इसका नाम बदल कर 'श्रीअरविन्द अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षाकेन्द्र' कर दिया गया।

शिक्षाकेन्द्र उपाधियाँ नहीं देता। यह विद्यार्थी में सीखने का आनन्द और प्रगति के लिए अभीप्सा जगाने की कोशिश करता है जो अन्य बाहरी उद्देश्यों से मुक्त होती है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १२, पृ. ११९, १२०

जब बचपन में मैं अपनी माँ से भोजन या किसी ऐसी ही छोटी-सी बात के विषय में शिकायत करती तो वे मुझे सदा यही कहतीं कि जाओ, इन तुच्छ विषयों की चिन्ता न करके अपना काम करो या पढ़ो-लिखो। वे मुझसे कहतीं कि क्या तुम्हें यह इतमीनान है कि तुम आराम के लिए पैदा हुई हो। वे कहतीं: "तुम उच्च आदर्श को चरितार्थ करने के लिए जन्मी हो," और इतना कह कर मुझे चलता करतीं। वे बिलकुल ठीक कहती थीं, यद्यपि इसमें सन्देह नहीं कि सर्वोच्च आदर्श के विषय में उनका विचार हमारे मानदण्डों से कहीं छोटा था। हम सभी सर्वोच्च 'आदर्श' के लिए उत्पन्न हुए हैं...

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. १४६

नयी शिक्षा के बीज

पुख़्ता नींव रखना

बौद्धिक ज्ञान के एक विशाल भवन का निर्माण करने के लिए सर्वप्रथम आवश्यकता है एक ऐसी सुदृढ़ आधारशिला की जो उसके भार को वहन कर सके। वे शिक्षा-पद्धतियाँ, जो मानव प्रकृति के अधूरे ज्ञान से आरम्भ करती हैं, सोचती हैं कि जब विद्यार्थी को उन अनेक विविध विषयों-सम्बन्धी, जो तत्कालीन मानव संस्कृति के सर्वोत्तम अंग हों, विस्तृत या भली प्रकार चुनी गयी ज्ञान की राशि प्रदान कर दी जाती है तो एक सन्तोषजनक आधार-शिला स्थापित करने का कार्य सम्पन्न हो जाता है। उनका सिद्धान्त-सूत्र यह है कि विद्यालय सामग्री प्रदान करता है, उसका उपयोग करना विद्यार्थी का काम है। किन्तु यहाँ एक बुनियादी भूल हो रही है।

निरी जानकारी बौद्धिक शक्ति का आधार नहीं हो सकती, वह केवल उस सामग्री का एक अंश हो सकती है जिसमें से ज्ञाता ज्ञान का निर्माण करता है, वह केवल नवीन आविष्कार और विशालतर सृजन का आरम्भ-बिन्दु, केन्द्र-बिन्दु हो सकती है। वह शिक्षा जो केवल ज्ञान देने तक ही अपने-आपको सीमित रखती है, कोई शिक्षा नहीं है। स्मृति, निर्णय, कल्पना, प्रत्यक्षीकरण, तर्क आदि विविध मानसिक शक्तियों को, जो ज्ञाता के लिए विचार और ज्ञान के भवन का निर्माण करती हैं, न केवल उन्हें उपयुक्त और पर्याप्त उपकरणों और सामग्रियों से सम्पन्न करना होगा, अपितु उन्हें नयी सामग्रियाँ प्राप्त करने के लिए और जो सामग्रियाँ प्राप्त हैं उनका अधिक कुशलतापूर्वक उपयोग करने के लिए प्रशिक्षित करना होगा। और जिस भवन का उन्हें निर्माण करना है उसकी एकमात्र आधारशिला हो सकती है शक्ति और ऊर्जा के एक ऐसे भण्डार का सञ्चय जो स्मृति, निर्णय और सृजनात्मक शक्ति की चिरवर्धमान क्रिया की माँगों का भार वहन करने के लिए पर्याप्त हो।
CWSA खण्ड १, पृ. ३६९-३७०

शिक्षा के तीन सिद्धान्त

सच्चे शिक्षण का पहला सिद्धान्त है कि कुछ भी सिखाया नहीं जा सकता। अध्यापक कोई प्रशिक्षक या काम लेने वाला दफ़ादार नहीं है। वह सहायक और पथ-प्रदर्शक है। उसका काम सुझाव देना है, थोपना नहीं। वह सचमुच विद्यार्थी के मानस को प्रशिक्षित नहीं करता। वह उसे केवल यह बतलाता है कि अपने ज्ञान के उपकरणों को कैसे पूर्ण बनाया जाये और वह उसे इस कार्य में सहायता देता और प्रोत्साहित करता है। वह उसे ज्ञान नहीं देता, वह उसे यह बतलाता है कि अपने लिए ज्ञान कैसे प्राप्त किया जाये। वह अन्दर स्थित ज्ञान को प्रकट नहीं करता; वह केवल यह दिखलाता है कि वह कहाँ रखा है और उसे ऊपरी तल पर आने के लिए कैसे अभ्यस्त किया जा सकता है।...

दूसरा सिद्धान्त यह है कि मन के विकास में स्वयं उसकी सलाह ली जाये। बच्चे को हथौड़ी मार-मार कर माता-पिता या अध्यापक के चाहे हुए रूप में गढ़ना एक अज्ञानपूर्ण और बर्बर अन्ध-विश्वास है। विद्यार्थी को यह प्रेरणा देनी चाहिये कि वह अपनी प्रकृति के अनुसार अपना विस्तार करे। माता-पिता के लिए इससे बड़ी भूल नहीं हो सकती कि वे पहले से ही तय कर लें कि उनका बेटा अमुक गुण, अमुक क्षमताएँ, विचार या विशेषताएँ विकसित करेगा या उसे पहले से ही निश्चित अमुक प्रकार की जीविका के लिए तैयार किया जाये। प्रकृति को इस बात के लिए बाधित करना कि वह स्वधर्म छोड़ दे, उसे स्थायी क्षति पहुँचाना, उसके विकास को विकृत करना और उसकी पूर्णता को विरूप कर देना है। यह मानव आत्मा पर स्वार्थपूर्ण अत्याचार है, राष्ट्र पर एक आघात है जिसके कारण वह मनुष्य के सर्वोत्तम कार्य के लाभ से वञ्चित हो जाता है और उसके बदले अपूर्ण, कृत्रिम, घटिया, औपचारिक और सामान्य चीज़ स्वीकार करने के लिए बाधित होता है। हर एक में कुछ दिव्य अंश होता है, कुछ ऐसा जो उसका अपना होता है। भगवान् स्वीकार करने या त्याग देने के लिए एक क्षेत्र देते हैं, वह चाहे कितना भी छोटा क्यों न हो, जिसमें वह पूर्णता और शक्ति पा सकता है। मुख्य काम है खोजना, विकसित करना और उसका उपयोग करना। शिक्षा का मुख्य उद्देश्य होना चाहिये अन्तरात्मा की इस बात में सहायता करना कि वह अपने अन्तर की अच्छी-से-अच्छी

चीज़ को बाहर लाये और उसे किसी उदात्त उपयोग के लिए पूर्ण बनाये।

शिक्षा का तीसरा सिद्धान्त है निकट से दूर की ओर काम करते चलना, जो है उससे जो होगा उसकी ओर जाना। प्रायः हमेशा ही मनुष्य के स्वभाव का आधार उसकी आत्मा के अतीत के अतिरिक्त अन्य बहुत-सी चीज़ों पर निर्भर होता है, जैसे : उसकी आनुवंशिकता, उसका पास-पड़ोस, उसकी राष्ट्रीयता, उसका देश, वह धरती जहाँ से वह आहार पाता है, वह हवा जिसमें वह साँस लेता है, वे दृश्य, वे आवाज़ें और वे आदतें जिनका वह अभ्यस्त होता है। ये चीज़ें उसके जाने बिना, लेकिन इस कारण कम बल के साथ नहीं, उसको ढालती हैं। और हमें वहीं से शुरू करना चाहिये। हमें स्वभाव को उस ज़मीन में से जड़ों से नहीं उखाड़ देना चाहिये जहाँ उसे पनपना है। मन को ऐसे बिम्बों और ऐसे जीवन के विचारों से नहीं घेर देना चाहिये जो उस जीवन के विरोधी हों जिनमें उसे भौतिक रूप से हिलना-डुलना है। अगर बाहर से कोई चीज़ लानी है तो मन पर ज़ोर से आरोपित न की जाये, वह उसे भेंट की जा सकती है। सच्चे विकास के लिए एक ज़रूरी शर्त है : स्वाभाविक और मुक्त वृद्धि।

CWSA खण्ड १, पृ. ३८४-८५

ऐसी आत्माएँ होती हैं जो अपने परिवेश के विरुद्ध विद्रोह करती हैं और ऐसा लगता है कि वे किसी और ही युग, किसी और ही देश की हैं। उन्हें अपनी पसन्द का अनुसरण करने दो। लेकिन कृत्रिम रूपों में ढाले जाने पर अधिकतर लोग क्षीण, रिक्त और बनावटी बन जाते हैं। भगवान् की व्यवस्था है कि अमुक लोग किसी राष्ट्र-विशेष, देश, युग, समाज के हों। वे अतीत के बालक, वर्तमान के भोक्ता और भविष्य के निर्माता हों। अतीत हमारी नींव है, वर्तमान हमारा उपादान है, भविष्य हमारा लक्ष्य और शिखर है। राष्ट्रीय शिक्षा-पद्धति में हर एक को अपना उचित और स्वाभाविक स्थान मिलना चाहिये।

CWSA खण्ड १, पृ. ३८५

सफल अध्यापक के व्यक्तित्व की विशेषताएँ

१. पूरा-पूरा आत्म-संयम, केवल इतना ही नहीं कि अपना क्रोध न दिखलाओ, बल्कि सभी परिस्थितियों में पूरी तरह शान्त, स्थिर और अविचल बने रहना।

२. आत्मविश्वास के मामले में, अपने महत्त्व की सापेक्षता का भी भान होना चाहिये।

सबसे बढ़ कर, यह ज्ञान होना चाहिये कि अगर अध्यापक चाहता है कि उसके विद्यार्थी प्रगति करें तो स्वयं उसे भी हमेशा प्रगति करनी चाहिये। उसे कभी भी वह जो है या वह जितना जानता है उससे सन्तुष्ट न होना चाहिये।

३. अध्यापक में अपने विद्यार्थियों से मूलभूत श्रेष्ठता का भाव न होना चाहिये और न ही उनमें से किसी के लिए वरीयता या आसक्ति।

४. उसे यह मालूम होना चाहिये कि आध्यात्मिक दृष्टि से सब समान हैं और उसके अन्दर केवल सहिष्णुता ही नहीं, व्यापक बोध और समझ होनी चाहिये।

५. "अध्यापक और माता-पिता दोनों का यह काम है कि बच्चे को अपने-आपको शिक्षित करने-योग्य बनायें और इसमें उसकी मदद करें, उसे अपनी बौद्धिक, नैतिक, सौन्दर्य-बोधात्मक और व्यावहारिक क्षमताओं को विकसित करने और एक मूलभूत सत्ता के रूप में खुले तौर पर विकसित होने में मदद दें जिसे जड़ लोचदार पदार्थ की तरह कोई आकार देने के लिए गूँधने या दबाने की ज़रूरत नहीं।"

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १२, पृ. १८३

श्रीअरविन्द स्मारक सम्मेलन के लिए उद्‌घाटन-सन्देश

श्रीअरविन्द हमारे बीच में उपस्थित हैं और अपनी समस्त सृजनात्मक प्रतिभा के साथ विश्वविद्यालय-केन्द्र के निर्माण की अध्यक्षता कर रहे हैं। उन्होंने बरसों तक यह माना था कि भावी मानवता को अतिमानसिक ज्योति ग्रहण करने-योग्य बनाने के लिए और उससे आज के श्रेष्ठ लोगों को धरती पर नयी ज्योति, शक्ति और जीवन अभिव्यक्त करने वाली नयी जाति में रूपान्तरित कर सकने के लिए यह सर्वोत्तम तरीक़ों में से एक होगा।

उनके नाम से आज मैं इस सम्मेलन का उद्‌घाटन करती हूँ जो उनके सबसे अधिक प्रिय आदर्शों में से एक को चरितार्थ करने के लिए हो रहा है।

२४ अप्रैल १९५१

स्वयं शिक्षित बनो

अधिकतर माता-पिता विभिन्न कारणों से बच्चों की सच्ची शिक्षा के विषय में बहुत कम सोचते हैं। जब उन्होंने संसार में एक बच्चे को जन्म दे दिया, उसके भोजन का प्रबन्ध कर दिया तथा उसका स्वास्थ्य बनाये रखने के लिए लगभग काफ़ी अच्छे ढंग से देखभाल करते हुए उसकी विभिन्न भौतिक आवश्यकताएँ पूरी कर दीं तब वे समझ लेते हैं कि उन्होंने अपना कर्तव्य पूरे तौर से निभा दिया है। कुछ दिन बाद वे उसे विद्यालय में प्रविष्ट करा देंगे और उसकी मानसिक शिक्षा का भार अध्यापक के हाथों में सौंप देंगे। कुछ माता-पिता ऐसे भी हैं जो यह जानते हैं कि उनके बच्चे को शिक्षा मिलनी चाहिये और वे उसे शिक्षा देने की चेष्टा भी करते हैं। पर उनमें से बहुत थोड़े लोग—जो इस विषय में अत्यन्त तत्पर और सच्चे होते हैं उनमें से भी बहुत थोड़े लोग—यह जानते हैं कि बच्चे को शिक्षा देने की योग्यता प्राप्त करने के लिए सबसे पहला कर्तव्य है, अपने-आपको शिक्षा देना, अपने विषय में सचेतन होना और अपना स्वामी बनना ताकि हम अपने बच्चे के सामने कोई बुरा उदाहरण न पेश करें। क्योंकि एकमात्र उदाहरण के द्वारा ही शिक्षा फलदायी बनती है। यदि हम अपने जीवन्त उदाहरण के द्वारा अपनी सिखायी बातों का सत्य बच्चे को न दिखा दें तो केवल अच्छी बातें कहने और बुद्धिमानी का परामर्श देने का उस पर बहुत थोड़ा प्रभाव पड़ता है। सच्चाई, ईमानदारी, स्पष्टवादिता, साहस, निष्काम-भाव, निःस्वार्थता, धैर्य, सहनशीलता, अध्यवसाय, शान्ति, स्थिरता, आत्म-संयम आदि सभी ऐसे गुण हैं जो सुन्दर भाषणों की अपेक्षा अनन्तगुना अधिक अच्छे रूप में अपने उदाहरण के द्वारा सिखाये जाते हैं। माता-पिताओ! एक ऊँचा आदर्श अपने सामने रखो और उसी आदर्श के अनुकूल सर्वदा कार्य करो। तुम देखोगे कि तुम्हारा बच्चा भी धीरे-धीरे उस आदर्श को अपने अन्दर ला रहा है, और जो-जो गुण तुम उसके स्वभाव में देखना चाहते हो उन्हें वह अपने-आप अभिव्यक्त कर रहा है। बड़े स्वाभाविक ढंग से बच्चे अपने माता-पिता के प्रति आदर और भक्ति-भाव रखते हैं; अगर माता-पिता एकदम अयोग्य ही न हों तो बच्चे उन्हें देवता जैसे समझते हैं और यथाशक्ति उत्तम-से-उत्तम रूप में उनका अनुकरण करने की चेष्टा करते हैं। —'श्रीमातृवाणी', खण्ड १२, पृ. ११-१२

उदाहरण सबसे अच्छा प्रशिक्षक है

उदाहरण सबसे अधिक प्रभावी प्रशिक्षक है। किसी बच्चे से ऐसे नियम-पालन के लिए कभी न कहो जिसका अनुसरण स्वयं तुम नहीं करते। स्थिर-शान्ति, समता, सुव्यवस्था, विधिबद्धता, व्यर्थ के शब्दों का अभाव—ये ऐसी चीज़ें हैं जिनका अध्यापक को हमेशा अभ्यास करते रहना चाहिये, यदि वह चाहता है कि उसके विद्यार्थियों में ये गुण पैदा हों।

अध्यापक को हमेशा समय-पालन करना चाहिये। उसे हमेशा, ठीक वेशभूषा के साथ कक्षा शुरू होने से कुछ मिनट पहले आ जाना चाहिये। और सबसे बढ़ कर, उसे कभी झूठ न बोलना चाहिये ताकि उसके विद्यार्थी झूठ न बोलें, उसे कभी विद्यार्थियों पर क्रोधित न होना चाहिये ताकि विद्यार्थी कभी क्रोध न करें, और यह कह सकने के लिए: "उपद्रव का अन्त प्रायः आँसुओं में होता है," उसे कभी उनमें से किसी पर हाथ न उठाना चाहिये।

ये बिलकुल प्रारम्भिक और मौलिक बातें हैं जिनका अभ्यास बिना अपवाद के हर विद्यालय में होना चाहिये।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १२, पृ. २११

मानव अधिकार एक प्रतीकात्मक वस्तु है

तुम जानते ही हो कि, मानव का व्यक्तिगत अधिकार—परिवार के पिता के, अध्यापक के, राज्य के अध्यक्ष के अधिकार की तरह—एक प्रतीकात्मक वस्तु है। उन लोगों को कोई सच्चा अधिकार प्राप्त नहीं होता बल्कि अधिकार उन लोगों को दिया गया है ताकि वे लोग वर्तमान सामाजिक जीवन में अपनी भूमिका अदा करने की योग्यता प्राप्त कर सकें, अर्थात्, एक ऐसा सामाजिक जीवन जो मिथ्यात्व पर आधारित है, सत्य पर बिलकुल ही नहीं, क्योंकि सत्य का मतलब है एकत्व, और समाज स्थापित है विभाजन पर। कुछ लोग ऐसे होते हैं जो अपनी भूमिका को, अपने कार्य को, अपने प्रतीक को थोड़ा-बहुत अच्छी तरह निभाते हैं—कोई व्यक्ति निर्दोष नहीं होता, इस संसार में सब कुछ मिला-जुला है। परन्तु जो लोग अपनी भूमिका को गम्भीरतापूर्वक लेते हैं, यथासम्भव ईमानदारी के साथ उसे पूरा करने का प्रयास करते हैं वे ऐसी अन्तःप्रेरणाएँ प्राप्त कर सकते हैं जो उन्हें साधारण व्यक्ति की अपेक्षा थोड़े अधिक सच्चे रूप में अपनी भूमिका अदा करने के

योग्य बना देती हैं। यदि अंक देने वाला अध्यापक अपने मन में यह बात याद रखे कि वह दिव्य सत्य का प्रतिनिधि है, यदि वह दिव्य 'संकल्प' के साथ समस्वर रहने के लिए निरन्तर पर्याप्त और यथासम्भव कष्ट उठाये तो वह बहुत सहायक हो सकता है; क्योंकि साधारणतया अध्यापक अपनी व्यक्तिगत अभिरुचियों के अनुसार—वह क्या पसन्द नहीं करता, वह क्या पसन्द करता है आदि-आदि के अनुसार कार्य करता है—और यह सब सामान्य मिथ्यात्व से सम्बन्धित होता है, परन्तु नम्बर देने के समय यदि वह अपनी तुच्छ संकीर्ण चेतना की अपेक्षा अधिक गभीर सत्य के साथ अपने-आपको समस्वर बनाने का सच्चाई के साथ प्रयत्न करे तो वह इस सत्य के एक मध्यस्थ के रूप में कार्य कर सकता है और, ऐसा करने के कारण, अपने विद्यार्थियों को उनके अन्दर विद्यमान इस सत्य के विषय में सचेतन होने में सहायता कर सकता है।

शिक्षण एक पुरोहिताई है

ठीक यही वह बात है जो मैं तुमलोगों से कहना चाहती थी। शिक्षण एक प्रकार की पुरोहिताई है, शिक्षा देना एक प्रकार की पुरोहिताई है, और किसी राज्य का अधिकारी होना एक प्रकार की पुरोहिताई है। अतएव अपनी भूमिका को अदा करने वाला व्यक्ति यदि उसे सर्वोत्तम और सत्यतम रूप में अदा करने की अभीप्सा करे तो संसार की साधारण अवस्था बहुत सुन्दर हो सकती है। दुर्भाग्यवश, अधिकतर लोग इस विषय में कभी, ज़रा भी विचार नहीं करते, वे अपनी भूमिका को किसी प्रकार निभा देते हैं—उन असंख्य लोगों की तो यहाँ कोई चर्चा ही नहीं जो केवल धन कमाने के लिए कार्य करते हैं, पर इस विषय में उनका कार्य स्वभावतः ही एकदम सड़ा-सा होता है। आश्रम की स्थापना करने में मेरा एकदम पहला आधार यही था : कि यहाँ किया गया कार्य भगवान् की पूजा हो।

अपनी प्रकृति की, अपनी मनोवृत्ति की धारा में अपने-आपको बहने देने के स्थान पर मनुष्य को निरन्तर अपने मन में इस प्रकार की भावना बनाये रखनी चाहिये कि हम 'परात्पर ज्ञान' के, 'परात्पर सत्य' के, 'परात्पर विधान' के प्रतिनिधि हैं और इस भाव को हमें यथासम्भव अत्यन्त शुद्ध, अत्यन्त सच्चे रूप में अपने जीवन में उतारना चाहिये; तब हम स्वयं बहुत

अधिक प्रगति करते हैं और दूसरों से भी करवा सकते हैं। और इसके अतिरिक्त, हमें आदर प्राप्त होगा, कक्षा के अन्दर फिर कभी अनुशासनहीनता नहीं रहेगी, क्योंकि प्रत्येक मानव-प्राणी के अन्दर कोई ऐसी चीज़ है जो सच्ची महानता को पहचानती और उसके सामने माथा टेकती है; यहाँ तक कि बुरे-से-बुरे अपराधी भी उच्च और निष्काम कर्म का समादर करने में समर्थ होते हैं। इसलिए जब बच्चे किसी अध्यापक में, पाठशाला के एक शिक्षक में, सत्य के अनुसार कार्य करने की इस गहरी अभीप्सा को अनुभव करते हैं तो वे उसकी बात जितना अनुगत होकर सुनते हैं उतना अनुगत होकर वे उस समय नहीं सुनेंगे जब अध्यापक एक दिन तो अच्छे भाव में हो और दूसरे दिन न हो, जो कि सबके लिए अनर्थकारी है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ४, पृ. १०७-०९

ज्ञान के लिए सीखना, प्रकृति और जीवन के रहस्यों को जानने के लिए पढ़ना, चेतना को विकसित करने के लिए अपने-आपको शिक्षित करना, आत्म-प्रभुत्व पाने के लिए स्वयं को अनुशासित करना, अपनी दुर्बलताओं, अक्षमताओं और अज्ञानताओं को अतिक्रम करने के लिए पढ़ना, जीवन में अधिक उच्च, विशाल, उदार और सच्चे उद्देश्य की ओर बढ़ने के लिए अपने-आपको तैयार करना... यह तो वे सोच ही नहीं सकते, इसे तो वे कपोल-कल्पना ही समझते हैं। बस, एक ही चीज़ महत्त्वपूर्ण है—व्यावहारिक होना, धन कमाना सीखना और उसके लिए अपने को तैयार करना।

आश्रम का यह 'शिक्षाकेन्द्र' उन बच्चों के लिए उपयुक्त स्थान नहीं है जो इस रोग के शिकार हैं। और उनके आगे इस बात को अच्छी तरह प्रमाणित कर देने के लिए ही हम उन्हें किसी प्रकार की परीक्षा के लिए या किसी सरकारी प्रतियोगिता के लिए तैयार नहीं करते और न ही उन्हें कोई 'डिप्लोमा' या उपाधि देते हैं जो बाहरी दुनिया में उनके काम आ सके।

हम यहाँ केवल उन्हीं बच्चों को चाहते हैं जो एक उच्चतर और श्रेष्ठतर जीवन की अभीप्सा करते हैं, जिनमें ज्ञान और पूर्णता की पिपासा है, जो एक पूर्णतर सच्चे भविष्य की ओर आतुरता से निहारते हैं।

बाक़ी सबके लिए दुनिया काफ़ी बड़ी है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १२, पृ. ३८२

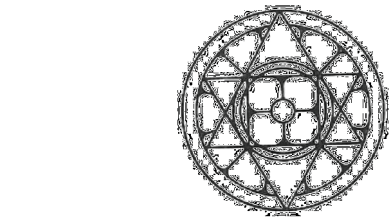

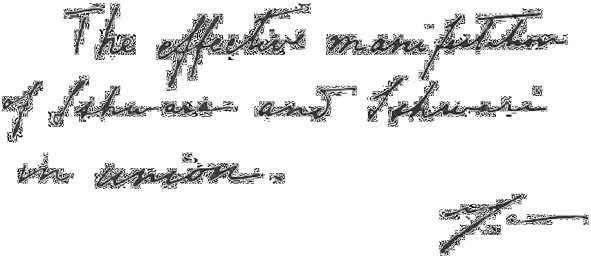

श्रीअरविन्द अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षाकेन्द्र के प्रतीक का अर्थ

श्रीअरविन्द ने अपने काम के विकास के बारे में जो अभिनव रूप सोचा था वह है, पॉण्डिचेरी में एक अन्तर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय की स्थापना जिसमें सारी दुनिया से विद्यार्थी आ सकें।...

*

मुझे पूरा विश्वास है, मैं बिलकुल आश्वस्त हूँ, मेरे मन में लेशमात्र भी सन्देह नहीं है कि यह विश्वविद्यालय, जो यहाँ स्थापित किया जा रहा है, धरती पर सबसे बड़ा ज्ञानपीठ होगा।

इसमें पचास वर्ष लग सकते हैं, इसमें सौ वर्ष लग सकते हैं, और तुम्हें मेरे यहाँ रहने के बारे में सन्देह हो सकता है; मैं यहाँ होऊँ या न होऊँ, पर मेरा काम पूरा करने के लिए मेरे ये बच्चे यहाँ होंगे।

और जो आज इस दिव्य कार्य में सहयोग दे रहे हैं उन्हें ऐसी असाधारण उपलब्धि में भाग लेने का आनन्द और गर्व प्राप्त होगा।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १२, पृ. १२१, १२२-२३

विद्यार्थियों की प्रार्थना

हमें वह वीर योद्धा बना जो बनने के लिए हम अभीप्सा करते हैं। वर दे कि हम डटे रहने का प्रयास करने वाले भूत के विरुद्ध, सफलतापूर्वक उस भविष्य का युद्ध लड़ सकें जो अभी जन्म लेने को है, ताकि नयी चीज़ें अभिव्यक्त हो सकें और हम उन्हें ग्रहण करने-योग्य बनें।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १२, पृ. १२२

एक नयी चेतना के लिए नयी शिक्षा

असली उद्देश्य और लक्ष्य

हमारे शिक्षाकेन्द्र का असली उद्देश्य और लक्ष्य क्या है? क्या श्रीअरविन्द के ग्रन्थ पढ़ाना? केवल यही? सभी ग्रन्थ या उनमें से कुछ? या हमें विद्यार्थियों को इस योग्य बनाना है कि वे माताजी और श्रीअरविन्द के ग्रन्थ पढ़ सकें? हमें उन्हें आश्रम-जीवन के लिए तैयार करना है या "बाहरी" काम के लिए भी?...

यह इन ग्रन्थों या अन्य ग्रन्थों को पढ़ने के लिए तैयार करने का सवाल नहीं है। सवाल है उन सबको जो इसके योग्य हों, साधारण मानव विचार, भाव और क्रिया की रूढ़ि में से खींचने का; जो यहाँ हैं उन सबको अपने अन्दर से मानव विचार और क्रिया-पद्धति की दासता को निकाल फेंकने के अवसर देना। जो छात्र सुनना चाहते हैं उन सबको यह सिखाना है कि जीने का एक अन्य एवं अधिक सच्चा मार्ग है, कि श्रीअरविन्द ने हमें बताया है कि किस प्रकार जिया जा सकता और **सत्य सत्ता** बना जा सकता है —और यह कि यहाँ की शिक्षा बच्चों को **उस जीवन** के लिए तैयार करने और उसके योग्य बनाने के लिए है।

बाक़ी सबके लिए, मानवीय ढंग से सोचने और जीने के लिए संसार बहुत विशाल है और वहाँ सबके लिए जगह है। हम संख्या नहीं, एक चयन चाहते हैं; हम प्रखर विद्यार्थी नहीं सजीव आत्माएँ चाहते हैं।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १२, पृ. १२८-२९

शिक्षा का आदर्श

यह प्रस्ताव किया गया था कि हमारी पाठशाला और अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षाकेन्द्र में शिक्षा श्रीअरविन्द के आदर्शों के अनुसार दी जायेगी, लेकिन अब तक शिक्षा बाहर की तरह ही दी जाती है, हम उसी कार्यक्रम का अनुसरण करते हैं।

हाँ, मेरे बच्चे। और बरसों मैं इसके लिए लड़ती आयी हूँ ताकि यह अन्यथा

हो। जब तुम—तुम, यहाँ के बच्चे—जब तुम पर्याप्त वयस्क और अध्यापक बनने के लिए तैयार हो जाओगे तो तुम्हें नवागतों को ठीक ढंग से, ठीक चीज़ सिखाने का काम सौंप दिया जायेगा। मूलतः, अभी के लिए यह छात्रों की पाठशाला होने की अपेक्षा अध्यापकों की शाला अधिक है! जो चीज़ अपेक्षित है वह यह कि जो बात सब लोग जानते हैं वही सीख कर अपने-आपको तैयार करो—क्योंकि एक अपरिहार्य आधार है : वह कोई बड़ी चीज़ नहीं है, कोई सविस्तार और सुदृढ़ रूप से स्थापित आधार नहीं है, फिर भी सामान्य मानव-ज्ञान का आधार है जो आवश्यक है—लेकिन एक बार जब तुम्हें यह आधार प्राप्त हो जाये और साथ ही तुमने उस प्रभाव का लाभ उठाया हो जो यहाँ है, और उस दृष्टिकोण से, यानी, वास्तविक जीवन के दृष्टिकोण से देख सकने के लिए तुमने पर्याप्त पढ़ा और समझा हो—हाँ, तो जब तुम वह सब जान लोगे तब तुम ही होगे जो बाहर से आने वाले बच्चों को वह सिखाओगे जो तुमने सीखा है। यह कार्य का एक भाग है। यह सच है कि किन्हीं इने-गिने और विरल अपवादों को छोड़ कर, शिक्षा सबसे साधारण सिद्धान्तों पर दी जाती है। मैं यह जानती हूँ। लेकिन, उदाहरण के लिए, इसके और तरह होने के लिए जिन किताबों का उपयोग किया जाता है उन्हें यहीं तैयार करना चाहिये, उनमें उद्धरण भी यहीं के चुने हुए होने चाहियें; और शिक्षा-पद्धति का परीक्षण भी यहीं पर होना चाहिये।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ५, पृ. ४५४-५५

उपयोगितावाद की बीमारी

मधुर माँ, हमारे 'शिक्षाकेन्द्र' के विद्यार्थियों को डिप्लोमा या सर्टिफ़िकेट क्यों नहीं दिये जाते?

लगभग एक शताब्दी से मानवजाति एक रोग से पीड़ित है जो अधिकाधिक बढ़ता ही दीख रहा है और आज वह अपनी चरम अवस्था पर आ पहुँचा है, इसे हम "उपयोगितावाद" कहते हैं। ऐसा लगता है कि चीज़ों और मनुष्यों को, परिस्थितियों और कर्मों को अनन्य रूप से उसी एक दृष्टिकोण से विचारा और सराहा जाता है। जिसकी कोई उपयोगिता नहीं उसका कोई मोल नहीं। यह ठीक है कि जो उपयोगी है वह निरुपयोगी से बेहतर

है। लेकिन पहले यह समझ लेना चाहिये कि मनुष्य किसे उपयोगी मानता है—उपयोगी किसके लिए, किसके प्रति, किसलिए?

क्योंकि, वे जातियाँ जो अपने को सभ्य समझती हैं उसी चीज़ को उपयोगी कहती हैं जो धन ला सके, धन कमा सके या पैदा कर सके। सबका निर्णय और मूल्यांकन उसी एक आर्थिक दृष्टिकोण से किया जाता है। मैं इसे ही उपयोगितावाद कहती हूँ। और यह रोग बहुत ही संक्रामक है, क्योंकि बच्चे भी इससे अछूते नहीं रहते।

उस उम्र में जब कि सुन्दरता, भव्यता और पूर्णता के सपने सँजोये जाने चाहियें, ऐसे सपने जो शायद सामान्य अर्थों से कहीं अधिक उदात्त होते हैं, पर जो निश्चय ही कुण्ठित सामान्य बुद्धि से उच्चतर हैं, आजकल बच्चे पैसे के सपने देखते हैं और उसे कमाने के साधनों के बारे में चिन्तातुर रहते हैं।

इसी तरह जब वे अपनी पढ़ाई के बारे में सोचते हैं तो उस सब पर विचार करते हैं जो आगे चल कर उनके लिए उपयोगी हो सके ताकि जब वे बड़े हों तो बहुत-सा धन कमा सकें।

और परीक्षाओं में सफल होने के लिए तैयारी करना उनके लिए सबसे महत्त्वपूर्ण बन गया है, क्योंकि डिप्लोमा, सर्टिफ़िकेट और उपाधि ही उन्हें उच्च पद प्राप्त करा सकते हैं और इनकी सहायता से वे धन भी ख़ूब कमा सकते हैं।

उनके लिए पढ़ाई का न कोई और उद्देश्य है, न महत्त्व।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १२, पृ. ३८१

शिक्षा के पूर्ण होने के लिए उसमें पाँच प्रधान पहलू होने चाहियें। इनका सम्बन्ध मनुष्य की पाँच प्रधान क्रियाओं से होगा—भौतिक, प्राणिक, मानसिक, आन्तरात्मिक और आध्यात्मिक। साधारणतया, शिक्षा के ये सब पहलू व्यक्ति के विकास के अनुसार, एक के बाद एक, कालक्रम से आरम्भ होते हैं। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि एक पहलू दूसरे का स्थान ले ले, बल्कि सभी पहलुओं को जीवन के अन्तकाल तक, परस्पर एक-दूसरे को पूर्ण बनाते हुए जारी रहना चाहिये।...

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १२, पृ. १०

शिक्षा एक साँचा है

तुम सोचते हो कि तुम्हें जो पाठशाला भेजा जाता है और तुमसे जो वहाँ अभ्यास करवाये जाते हैं, यह सब तुम्हें तंग करने में मज़ा लेने के लिए है? नहीं! नहीं, यह इसलिए है कि तुम्हारे लिए यह अनिवार्य है कि तुम्हारे पास एक ऐसा साँचा हो जिसमें तुम अपने-आपको आकार देना सीख सको। अगर तुम व्यष्टीकरण का, पूर्ण निर्माण का काम अपने-आप, अकेले, एक कोने में करो तो तुमसे कोई माँग न की जायेगी। लेकिन तुम ऐसा नहीं करते, करोगे भी नहीं, एक भी बच्चा नहीं है जो ऐसा करे, उसे यह मालूम तक न होगा कि यह कैसे किया जाये, कहाँ से शुरू किया जाये। अगर तुम किसी बच्चे को जीना नहीं सिखाओ तो वह जी भी न सकेगा, वह कुछ भी करना न जानेगा, कुछ भी नहीं। मैं अप्रिय ब्योरों की बात नहीं करना चाहती, लेकिन अगर हम बच्चे को न सिखायें तो वह बिलकुल प्रारम्भिक चीज़ें भी ठीक ढंग से न कर सकेगा। परिणामस्वरूप तुम एक-एक पग...। कहने का मतलब यह है कि अगर व्यष्टि-सत्ता की संरचना के लिए हर एक को सारी अनुभूति दोहरानी पड़े तो जीना शुरू करने से बहुत पहले ही वह मर चुका होगा! यही उन लोगों की देन है जिनके पास—सदियों से सञ्चित—अनुभूतियाँ हैं और जो तुमसे कहते हैं, "अच्छा, तो अगर तुम जल्दी बढ़ना चाहो, कुछ ही वर्षों में वह जानना चाहो जिसे सीखने में सदियाँ लग गयीं, तो ऐसा करो!" पढ़ो, सीखो, अध्ययन करो और फिर, भौतिक क्षेत्र में, तुम्हें इस चीज़ को इस तरह से, उसको उस तरह से, उसे उस तरह से करना सिखाया जायेगा *(मुद्राएँ)*। यदि एक बार तुम थोड़ा-सा जान लो, फिर यदि तुम्हारे अन्दर प्रतिभा होगी तो तुम अपनी पद्धति ढूँढ़ सकोगे, लेकिन पहले तुम्हें अपने पैरों पर खड़ा होना और चलना सीखना होगा। अपने-आप सीखना बहुत कठिन है। सबके लिए यही बात है। अपने-आपको गढ़ना होगा। परिणामस्वरूप, शिक्षा की ज़रूरत होती है। तो, ऐसा है!

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ६, पृ. २९८

किसी बच्चे को देने-लायक़ सबसे अनमोल उपहार है उसमें सीखने के लिए ललक पैदा करना, हमेशा और हर जगह सीखते रहना। —श्रीमाँ

सदियों की अभीप्सा हमें यहाँ ले आयी है

"हमारे अन्दर कौन-सी चीज़ है जिसके कारण हम यहाँ आये हैं?"

उत्तर अन्दर है। बाहर कुछ भी नहीं है। और अगर तुम पर्याप्त गहराई में पैठो, तो तुम्हें बहुत स्पष्ट उत्तर मिलेगा... *(मौन)* और मज़ेदार उत्तर। अगर तुम पर्याप्त गहराई में पैठो, सभी बाहरी चीज़ों की अपेक्षा काफ़ी पूर्ण शान्ति में अन्दर पैठो, तो तुम्हें अपने अन्दर वह लौ मिलेगी जिसकी मैं बहुत बार बात करती हूँ और इस लौ में तुम **अपनी नियति** को देख पाओगे। तुम सदियों से धीरे-धीरे इकट्ठी होती हुई उस अभीप्सा को देख पाओगे जो तुम्हें अनगिनत जन्मों में से होकर **सिद्धि के महान् दिवस की ओर** ले आयी है—यह तैयारी युग-युगान्तर से होती आयी है, और अपनी पराकाष्ठा तक पहुँच रही है।

और चूँकि यह जानने के लिए तुम बहुत गहराई में पैठ चुके होगे, इसलिए तुम्हें यह अनुभव होगा कि तुम्हारी सारी अक्षमताएँ, तुम्हारी सारी कमज़ोरियाँ, तुम्हारे अन्दर जो कुछ इनकार करता है और समझ नहीं पाता, वह सब तुम्हारा अपना-आपा नहीं है, वह केवल एक वस्त्र है जो किसी तरह काम आता है और जिसे तुमने अभी के लिए पहन रखा है। लेकिन तुम समझ जाओगे कि अवसर का पूरा-पूरा लाभ उठाने में सचमुच समर्थ होने के लिए, तुम जो करना चाहते थे, इतने समय से तुमने जिसकी अभीप्सा की थी, वह कर सकने के लिए यह ज़रूरी है कि तुम प्रकाश, चेतना और सत्य को थोड़ा-थोड़ा करके बाहरी परिधान के सभी अन्धकारमय तत्त्वों पर डालो ताकि तुम यह पूर्ण रूप से समझ सको कि **तुम यहाँ किसलिए हो!** केवल इतना ही नहीं कि तुम समझ सको, बल्कि उसे करने में समर्थ हो सको। यह चीज़ सदियों से तुम्हारे अन्दर तैयार हो रही है, इसमें नहीं... *(माताजी अपनी बाँह की चमड़ी को पकड़ती हैं)* यह तो बिलकुल हाल का है, है न?... लेकिन तुम्हारे सच्चे आत्मरूप में।

और **सदियों से** यह **इस अवसर** की प्रतीक्षा में है।

और तब तुम **तुरन्त** अद्‌भुत तत्त्व में प्रवेश कर जाते हो। तुम देखते हो कि यह किस हद तक असाधारण है... कि जिन चीज़ों की तुमने बहुत लम्बे समय से आशा की, जिन चीज़ों के लिए तुमने इतनी प्रार्थना

की, इतना परिश्रम किया, अचानक एक मुहूर्त आता है और **वे सिद्ध हो जाती हैं**। यह वह घड़ी है जब महान् चीज़ें की जाती हैं। इस अवसर से चूकना नहीं चाहिये!

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ६, पृ. ३०९-१०

वातावरण की शक्ति

मेरा ख़याल है कि वह ठीक ऐसा व्यक्ति होना चाहिये जो बचपन से यहीं पला है और जिसने चीज़ों को छोटी उम्र से ही काफ़ी अवचेतन रूप में महसूस किया है। सब चीज़ों के बावजूद इसकी एक छाप पड़ती है, यह असर डाले बिना नहीं रहता। और जब तुम बाहर के बच्चों की तुलना में यहाँ पले बच्चों को देखते हो तो सचमुच बड़ा अन्तर दिखायी देता है (शायद बाह्य दृष्टि से प्रशिक्षण के यन्त्रवत् भाग में नहीं, बल्कि समझदारी, बुद्धि और आन्तरिक जागरण में), उनमें काफ़ी अन्तर है और समान स्तर पर पहुँचने के लिए नये लोगों को काफ़ी समय लगता है। यह कोई ऐसी चीज़ है जो किताबों के परे है, क्या तुम नहीं देखते? यह भेद उसके समान है जैसे तुम किसी पवित्र वातावरण में रहते हुए जब कभी साँस लो तो पवित्र हवा से अपने फुफ्फुस को भरो और किसी संक्रमित वातावरण में रहते हुए हर साँस के साथ अपने-आपको विषाक्त करो। चेतना की दृष्टि से यह वही तथ्य है, और तत्त्वतः यह सबसे महत्त्वपूर्ण चीज़ है। और यही चीज़ है जो सतही चेतना से बच निकलती है। तुम चेतना के एक ऐसे समुद्र में निमज्जित होते हो जो प्रकाश, अभीप्सा, सच्ची समझदारी, मूल पवित्रता से भरपूर है, और तुम चाहो या न चाहो, वह तुम्हारे अन्दर प्रवेश पाता है। उन लोगों के बारे में भी जो अपनी बाह्य चेतना में बन्द हैं, वे भी व्यर्थ नहीं सोते रह सकते। नींद के समय यहाँ एक काम चलता है जो काफ़ी महत्त्वपूर्ण है, महत्त्वपूर्ण। इसलिए उसका असर होता है, वह दृष्टिगोचर होता है। मैंने ऐसे लोगों को देखा है जो बिलकुल बाहर से आये हुए थे, जो कुछ भी नहीं जानते थे (केवल उन्होंने बच्चों के साथ जीवन बिताया था), इन लोगों पर जो प्रभाव पड़ता है—दर्शनार्थी लोग, जो यहाँ से होते हुए चले जाते हैं—वे सब बहुत आश्चर्यचकित होते हैं: "लेकिन यहाँ पर आपके पास ऐसे बच्चे हैं जैसे हमने अन्यत्र कहीं नहीं देखे!" हमारे

लिए, हम तो उनके आदी हो गये हैं, हैं न? वे सहज रूप से ऐसे होते हैं, एकदम स्वाभाविक रूप से। लेकिन चेतना में एक जागरण होता है, एक प्रकार के आन्तरिक प्रत्युत्तर और उन्मीलन का भाव, आन्तरिक मुक्ति का भाव, जो अन्यत्र नहीं पाया जाता। यहाँ जो बच्चे आते हैं उनमें से कुछ तो अत्यधिक अच्छी तरह से पले होते हैं—इतने भद्र, इतने शिष्ट, जो तुम्हें ऐसे उत्तर देते हैं... कि तुम पर छोटी कठपुतलियों की छाप पड़ती है। वे केवल अर्ध-जीवन्त लगते हैं, जो बाहर से बहुत परिष्कृत, परिमार्जित होते हैं, जिनकी ख़ूब देखभाल की गयी होती है, लेकिन उनके अन्दर से कोई प्रत्युत्तर नहीं मिलता। यहाँ, मैं नहीं कह सकती कि हम असाधारण शिष्टता का उदाहरण देते हैं (!) बल्कि व्यक्ति ज़रा... ज़रा वह है जिसे लोग "अशिष्ट" कहते हैं। लेकिन उसमें भी, वे कितने जीवन्त होते हैं! तुम यहाँ एक चेतना को स्पन्दित होते हुए महसूस करते हो। और वही सबसे महत्त्वपूर्ण भाग है। और इसके बारे में बात नहीं की जाती, ये ऐसी चीज़ें हैं जिन्हें व्यक्ति **करता** है, पर जिनके बारे में बोलता नहीं। इस विषय में मेरे कुछ कहने के लिए आज की तरह किसी अवसर का आना ज़रूरी है। वास्तव में, तुम बहुत सालों से यहाँ हो, और पहली बार ही ऐसा अवसर आया है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ५, पृ. ४५५-५७

क्या बच्चे को सज़ा देनी चाहिये?

सज़ा? सज़ा से तुम्हारा क्या मतलब है? यदि एक लड़का कक्षा में शोर मचाता है और दूसरों को काम करने से रोकता है तो उससे ठीक तरह व्यवहार करने के लिए कहना चाहिये; और यदि वह फिर भी करता रहे तो उसे कक्षा से निकाल देना चाहिये। यह, यह तो कोई सज़ा नहीं, यह तो उसके किये का सहज परिणाम है। लेकिन सज़ा देना! सज़ा देना! तुम्हें सज़ा देने का कोई अधिकार नहीं।

तुम बच्चों पर मनोवैज्ञानिक शासन तभी ला सकते हो जब तुम्हें स्वयं अपनी प्रकृति पर क़ाबू हो। —*श्रीमाँ*

नवीन पथ

सब कुछ नवीन चेतना के साथ करो

माँ, अगर, उदाहरण के लिए, लम्बी कूद में हम अधिकाधिक दूर कूदने की कोशिश करें तो हम भागवत कार्य किस तरह करते हैं?

ओह! माफ़ करना, लेकिन यह लम्बी कूद करने के मज़े के लिए नहीं, बल्कि तुम्हारे शरीर को उसके कार्य-सञ्चालन में ज़्यादा पूर्ण और, फलस्वरूप, भागवत शक्तियों को ग्रहण और अभिव्यक्त करने के लिए अधिक योग्य यन्त्र बनाने के लिए है।

लेकिन यहाँ तुम जो कुछ करते हो, जो कुछ भी, वह इसी भाव के साथ किया जाना चाहिये, वरना तुम उस अवसर का, उन परिस्थितियों का लाभ तक नहीं उठाते जो तुम्हें दी गयी हैं। उस दिन मैंने तुम्हें समझाया था, है न, कि 'चेतना' यहाँ मौजूद है, वह सभी चीज़ों में प्रविष्ट होकर सारी गतिविधियों में अभिव्यक्त होने की कोशिश कर रही है। लेकिन अगर तुम अपनी तरफ़ से, अपने-आपसे कहो कि मैं जो प्रयास कर रहा हूँ, मैं जो प्रगति कर रहा हूँ वह इसलिए कर रहा हूँ कि मैं इस 'चेतना' को ग्रहण और अभिव्यक्त करने में ज़्यादा समर्थ बन जाऊँ, तो स्वभावतः काम ज़्यादा अच्छी तरह और ज़्यादा जल्दी हो जायेगा। और सच्ची बात तो यह है कि यह मुझे बिलकुल प्रारम्भिक बात लगती है। मुझे आश्चर्य होता है कि यह अन्यथा भी हो सकता है! क्योंकि अगर ऐसा न हो तो इस तरह संगठित आश्रम में, जैसा कि यह है, तुम्हारी उपस्थिति का कोई अर्थ न होता! उसका लाभ ही क्या! जगत् में बहुत सारे विश्व-विद्यालय और विद्यालय हैं जो बहुत अच्छी तरह संगठित-सञ्चालित हैं!

लेकिन अगर तुम यहाँ हो, तो **एक विशेष कारण** के लिए हो! क्योंकि यहाँ चेतना को आत्मसात् करने और प्रगति करने की ऐसी सम्भावना है जो और कहीं नहीं है। और अगर तुम अपने-आपको उसे ग्रहण करने के लिए तैयार नहीं करते, तो तुम दिये गये अवसर को खो बैठोगे!

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ६, पृ. ३०६-०७

यथासम्भव स्वाधीनता का सिद्धान्त

आपने कहा था कि चूँकि हम यहाँ हैं और सब कुछ पाते हैं, इसलिए यह हमें बहुत स्वाभाविक लगता है। तो फिर, प्रयास भी स्वाभाविक रूप से क्यों नहीं आता?

क्योंकि, जैसा कि श्रीअरविन्द ने कहा है, साधारण मनुष्यों की भौतिक प्रकृति तामसिक-सी है। स्वभावतः वह प्रयास नहीं करती। लेकिन प्राण प्रयास करता है। वह बस साधारणतः, स्वयं अपनी सन्तुष्टि के लिए ही प्रयास करता है। फिर भी वह प्रयास करने के लिए पूरी तरह से सक्षम है, क्योंकि यह उसके स्वभाव में है। वास्तव में, मैं यह नहीं कह सकती कि तुम ज़रा भी प्रयास नहीं करते, तुम बहुत-सी चीज़ों के लिए बहुतेरा प्रयास करते हो, बशर्ते कि तुम्हारी मरज़ी हो, या किसी-न-किसी कारण से तुम्हें लगे कि यह ज़रूरी है। तुम्हारा मतलब योग के लिए सतत प्रयास से है। ऐसे लोग भी हैं जो यहाँ योग करने आये हैं या कम-से-कम यह सोच कर आये हैं कि वे योग के लिए आये हैं, और फिर भी, बहुत प्रयास नहीं करते, चीज़ें जैसे आयें, जिस तरह आयें उसी तरह स्वीकार कर लेते हैं। मुझे नहीं लगता कि स्वयं उसके ऊपर छोड़ देने से भौतिक प्रकृति सहज रूप से किसी प्रयास की ओर बढ़ती है। उसे कुछ क्रिया-कलाप की ज़रूरत तो होती है, लेकिन बहुत कम। यहाँ बड़ी बात तो यह है कि शिक्षा का सिद्धान्त स्वाधीनता का सिद्धान्त है, संक्षेप में कहें तो, समस्त जीवन गतिविधि की यथासम्भव अधिक-से-अधिक स्वाधीनता पर आधारित है; अर्थात्, नियम, नियन्त्रण, प्रतिबन्ध आदि घटा कर कम-से-कम कर दिये गये हैं। अगर तुम इसकी तुलना उस तरीक़े से करो जिससे माता-पिता साधारणतः अपने बच्चों को प्रशिक्षित करते हैं, वे हमेशा कहते रहते हैं: "यह मत करो", "तुम यह नहीं कर सकते", "यह करो", "जाओ, वह करो", इस तरह के हुकुम और नियम होते हैं, तो इन दोनों में बहुत फ़र्क है।

विद्यालयों और महाविद्यालयों में हमारे यहाँ की अपेक्षा कहीं अधिक कठोर नियम होते हैं। चूँकि यहाँ तुम पर प्रगति करने की शर्त कठोरता से नहीं लादी जाती, तो जब तुम्हारी मरज़ी होती है तुम प्रगति करते हो, जब नहीं होती तो नहीं करते, और तुम चीज़ों को यथासम्भव निश्चिन्तता के साथ

करते हो। कुछ लोग हैं—मैं यह बात निरपेक्ष भाव से नहीं कहती—कुछ लोग हैं जो कोशिश करते हैं, लेकिन वे सहज रूप से कोशिश करते हैं। निश्चय ही आध्यात्मिक दृष्टिकोण से यह अनन्तगुना अधिक मूल्यवान् है। तुम जो प्रगति करते हो वह इसलिए क्योंकि तुम्हें अपने अन्दर उसके लिए आवश्यकता मालूम होती है, क्योंकि यह एक प्रेरणा है जो तुम्हें सहज रूप से आगे बढ़ाती है, वह तुम्हारे ऊपर नियम के रूप में लादी नहीं गयी है —यह प्रगति, आध्यात्मिक दृष्टिकोण से, अनन्तगुना अधिक श्रेष्ठ है। तुम्हारे अन्दर जो कुछ चीज़ों को अच्छी तरह करना चाहता है, सहज रूप से, सच्चाई के साथ करना चाहता है; वह कोई ऐसी चीज़ है जो तुम्हारे अन्दर से आती है। वह इसलिए नहीं है कि तुम्हें अच्छा करने पर पुरस्कार और बुरा करने पर दण्ड देने का वचन दिया गया है। हमारी शिक्षा-प्रणाली इस पर आधारित नहीं है।

हो सकता है कि किसी समय कोई ऐसी चीज़ आ जाये जो तुम्हें यह संकेत दे कि तुम्हारे प्रयास की सराहना की गयी है, लेकिन प्रयास इसे दृष्टि में रख कर नहीं किया गया था; यानी, पहले से ऐसे वचन नहीं दिये जाते और न उन्हें सन्तुलित करने के लिए किसी दण्ड का विधान रखा जाता है। यहाँ का यह रिवाज नहीं है। साधारणतः, चीज़ें ऐसी हैं, इस तरह से व्यवस्थित होती हैं कि काम अच्छी तरह करने का सन्तोष ही सबसे अच्छा ईनाम होता है और बुरी तरह करने पर व्यक्ति स्वयं अपने-आपको दण्ड दे लेता है, इस तरह कि वह अपने-आपको अभागा, दुःखी और बेचैन अनुभव करता है, और सचमुच उसके लिए यही सबसे ज़्यादा प्रत्यक्ष दण्ड है। और इस तरह, आन्तरिक आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से इन गतिविधियों का उनकी अपेक्षा कहीं अधिक मूल्य है जो बाहरी नियम का परिणाम हों।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ६, पृ. ४८४-८६

स्वतन्त्रता तथा अनुशासन

माँ, यह कहा जाता है कि अध्ययन में हमारी जो सामान्य कमियाँ हैं उसका कारण यह तथ्य है कि खेल-कूद पर, शारीरिक शिक्षण पर बहुत अधिक ज़ोर दिया जाता है। क्या यह सच है?

किसने ऐसा कहा है? उन लोगों ने जो शारीरिक शिक्षण को पसन्द नहीं करते? अकड़े हुए बूढ़े अध्यापकों ने जो अब व्यायाम करने में असमर्थ हैं? उन लोगों ने? मैं उनका नाम नहीं पूछ रही हूँ! ख़ैर, मुझे ऐसा नहीं लगता।

तुम्हें श्रीअरविन्द का वह पहला लेख याद है जो उन्होंने 'शिक्षाकेन्द्र पत्रिका' के लिए लिखा था? उसमें उन्होंने बिलकुल स्पष्ट रूप में इन लोगों को उत्तर दिया है।

मैं नहीं समझती कि ऐसी बात हो सकती है। मैं बिलकुल निस्सन्दिग्ध हूँ कि वह बात नहीं है। बल्कि मैं समझती हूँ—और मैं इसका सारा दोष अपने ऊपर लेती हूँ—कि तुमलोगों को एक प्रकार की विलक्षण स्वतन्त्रता दी गयी है, मेरे बच्चो; ओह! मुझे नहीं लगता कि संसार में ऐसा कोई दूसरा स्थान भी है जहाँ बच्चे इतने स्वतन्त्र हैं। और, निश्चय ही, यह जानना बहुत कठिन है कि इस प्रकार की स्वतन्त्रता का उपयोग कैसे करना चाहिये।

जो हो, इस परीक्षण को आज़मा कर देखना उचित था। तुम इसका मूल्य नहीं समझते, क्योंकि तुम नहीं जानते कि स्थिति ऐसी न होती तो क्या होता; यह स्थिति तुम्हें एकदम स्वाभाविक प्रतीत होती है। परन्तु यह जानना बहुत कठिन है कि स्वयं अपने-आप अपनी निजी स्वतन्त्रता को कैसे नियोजित किया जाता है। फिर भी, यदि तुम ऐसा करने में सफल हो जाओ, अपने-आप पर अपना अनुशासन लगाने में और वह भी उच्चतर उद्देश्यों के लिए—परीक्षाएँ पास करने, आजीविका कमाने, अपने अध्यापकों को ख़ुश करने, ढेरों पारितोषिक जीतने आदि अन्य सभी साधारण उद्देश्यों के लिए नहीं जो बच्चों के होते हैं, जैसे, डाँट न पड़े, दण्ड न मिले आदि, आदि; हम उन सब उद्देश्यों को एक तरफ़ रखते हैं—यदि तुम अपने-आप पर अपना अनुशासन रखने में सफल हो जाओ—प्रत्येक व्यक्ति अपना निजी अनुशासन रखे, तो किसी दूसरे का अनुसरण करने की आवश्यकता नहीं, बस इसलिए अनुशासन क्योंकि तुम प्रगति करना चाहते हो, और अपना सर्वोत्तम रूप बाहर लाना चाहते हो, तो... ओह! तुम उन लोगों से बहुत ऊँचे उठ जाओगे जो पाठशालाओं के सामान्य अनुशासनों का पालन करते हैं। बस, मैं इसी बात का परीक्षण करना चाहती थी। ध्यान दो, मैं यह नहीं कहती कि मैं असफल हो गयी हूँ; मुझे अब भी बहुत आशा है कि तुम यह समझ जाओगे कि इस अनुपम सुअवसर से कैसे लाभ उठाया

जा सकता है। परन्तु, फिर भी, एक चीज़ है जिसे तुम्हें खोज निकालना होगा; वह है आन्तरिक अनुशासन की **आवश्यकता**। अनुशासन के बिना तुम कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकोगे, अनुशासन के बिना तुम एक सामान्य आदमी का सामान्य जीवन भी नहीं बिता सकोगे। परन्तु साधारण समाजों या साधारण संस्थाओं के परम्परागत अनुशासन को मानने की जगह, मैं यह पसन्द करती, और मैं अब भी चाहती हूँ कि तुम उस अनुशासन का पालन करो जिसे तुम स्वयं अपने ऊपर पूर्णता प्राप्त करने के, अपनी निजी पूर्णता, अपनी सत्ता की पूर्णता प्राप्त करने के प्रेम के कारण लागू करो।

परन्तु उसके बिना... याद रखो कि यदि मनुष्य अपने शरीर को अनुशासित न करे तो वह अपने दो पैरों पर सीधा खड़ा भी नहीं हो सकेगा, वह एक बच्चे की तरह हाथों और घुटनों के बल चलेगा। तुम कुछ भी नहीं कर सकते। तुम अपने-आपको अनुशासित करने के लिए बाध्य हो; तुम जंगल में एकदम अकेले भले रह लो पर, समाज के अन्दर नहीं रह सकते, बिलकुल ही नहीं रह सकते; और वैसा भी (जंगल में रहना) कर सकते हो या नहीं, यह भी सन्देहास्पद है। यह अनुशासन एकदम अनिवार्य है, यह बात, न मालूम कितनी बार मैं तुमलोगों से कह चुकी हूँ। और चूँकि मैं परम्परागत अनुशासनों से विशेष रूप से विमुख हूँ, चाहे वे सामाजिक हों या अन्य, तो इसका अर्थ यह नहीं है कि तुम्हें सब प्रकार के अनुशासन से बचना ही चाहिये। मैं यह चाहूँगी कि तुममें से प्रत्येक व्यक्ति, अपनी आन्तरिक अभीप्सा तथा आत्मोपलब्धि के संकल्प की सच्चाई के साथ, अपना अनुशासन स्वयं खोज निकाले। और इसलिए, जो लोग जानते हैं, चाहे वे अध्यापक हों, व्यायाम-शिक्षक हों अथवा और कोई हों, उन सब जानकार लोगों का उद्देश्य ही है तुम्हें जानकारी देना, तुम्हारी सहायता करना। जब तुम एक ऐसी स्थिति में होते हो जो तुम्हें कठिन प्रतीत होती है, तो तुम अपनी समस्या उनके सामने रखते हो और वे अपने व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर तुमसे कह सकते हैं: "नहीं, यह बात ऐसी ही है या यह वैसी है, और तुम्हें ऐसा करना चाहिये, तुम्हें वैसी कोशिश करनी चाहिये।" तो, तुम्हें ज़बर्दस्ती मत-मतान्तरों, सिद्धान्तों और तथाकथित नियमों को, और कम या अधिक अमूर्त ज्ञान को निगलने के लिए विवश करने के बदले, वे सभी वस्तुओं के विषय में—अत्यन्त स्थूल वस्तुओं से

लेकर अत्यन्त आध्यात्मिक वस्तुओं तक के विषय में—अपने-अपने क्षेत्र के अन्दर और अपनी-अपनी क्षमताओं के अनुसार, तुम्हें जानकारी देने के लिए वहाँ विद्यमान रहेंगे। —'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. २२२-२४

स्वतन्त्रता का अर्थ समझना

माँ, आपने कहा है कि विद्यार्थी को पूरी स्वतन्त्रता अवश्य देनी चाहिये। अब, कुछ लोग इसका अर्थ यह लगाते हैं कि कोई भी निश्चित कक्षा नहीं होनी चाहिये, क्योंकि विद्यार्थी को वह जो कुछ चाहे वही करने की छूट देनी चाहिये, वह चाहे कक्षा में आये या न आये, जैसी उसकी मर्ज़ी, आदि। अतः इस हालत में, प्रत्येक कक्षा के लिए निश्चित समय नहीं होना चाहिये। और ऐसी स्थिति में प्रबन्धन बहुत जटिल बन जाता है—कक्षाओं की व्यवस्था कैसे की जाये?

एकदम असम्भव! परन्तु मैंने कब कहा है कि विद्यार्थियों को आने या न आने के लिए स्वतन्त्र छोड़ देना चाहिये?...

क्षमा करना, तुम्हें चीज़ों को गड्डमड्ड नहीं करना चाहिये। मैंने कहा है, और मैं दोहरा रही हूँ, कि यदि कोई छात्र किसी विषय के साथ एकदम अपना मेल नहीं बैठा पाता, जैसे, यदि कोई छात्र साहित्य और कविता के लिए अपनी योग्यता अनुभव करता है और गणित के लिए अरुचि अथवा कम-से-कम एक प्रकार की उदासीनता, यदि वह मुझसे कहता है : "मैं गणित का 'कोर्स' लेना नहीं पसन्द करता", तो मैं उससे यह नहीं कह सकती: "नहीं, उसे लेना एकदम आवश्यक है।" मगर किसी छात्र ने यदि किसी कक्षा में रहने का निश्चय कर लिया है तो यह एक अत्यन्त **प्रारम्भिक** अनुशासन है कि वह उसके अनुसार चले, वहाँ नियमित रूप से जाये और समुचित रूप से व्यवहार करे; अन्यथा वह विद्यालय जाने के लिए **एकदम अयोग्य** है। मैंने किसी को पढ़ाई के समय इधर-उधर घूमने और एक दिन आने और दूसरे दिन अनुपस्थित होने के लिए कभी प्रोत्साहित नहीं किया, कभी नहीं, कारण, प्रथमतः, यदि वह इस बिलकुल प्रारम्भिक अनुशासन के अधीन नहीं रह सकता तो वह कभी भी अपने ऊपर ज़रा भी संयम नहीं प्राप्त कर सकता, वह सर्वदा अपने सभी आवेगों तथा अपनी सभी

सनकों का ग़ुलाम बना रहेगा। यदि तुम ज्ञान की किसी विशेष शाखा का अध्ययन करना नहीं चाहते तो ठीक है, कोई व्यक्ति तुम्हें उसे पढ़ने के लिए बाध्य नहीं कर सकता; परन्तु तुम यदि जीवन में कोई काम करने का निर्णय करते हो, वह कोई भी काम क्यों न हो, यदि तुम उसे करने का निर्णय करते हो तो तुम्हें उसे **ईमानदारी के साथ**, अनुशासन के साथ, नियमितता के साथ और यथाविधि करना चाहिये। और बिना सनक के करना चाहिये। मैंने कभी यह अनुमति नहीं दी है कि व्यक्ति अपने निजी आवेगों और तरंगों का खिलौना बने, कभी नहीं, और तुम कभी मुझसे उस बात के लिए अनुमति नहीं प्राप्त कर सकते, क्योंकि तब मनुष्य मनुष्य ही नहीं रहेगा, वह पशु बन जायेगा। अतः, यहां एक प्रश्न बिलकुल निश्चित रूप से सुलझ गया, किसी तर्क-वितर्क के बिना।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. ४२६-२७

अज्ञान में रहने का अधिकार

जो कुछ पहले किया जा चुका है और जो कुछ दूसरों के द्वारा किया गया है उसकी नक़ल करने का एक शोचनीय अभ्यास लोगों को पड़ गया है। बहुत दिन पहले मैंने तुमसे यह बात कही थी। वह तर्क : "यही करना होगा, क्योंकि यही चीज़ सर्वत्र की जाती है"; मेरा उत्तर है : "सम्भवतः यही कारण है कि उसे नहीं करना चाहिये! क्योंकि यदि अन्य सभी उसको करते हैं तो उसे यहाँ भी करने का क्या लाभ?"

परन्तु आपके हस्तक्षेप के बिना, हम कोई चीज़ कैसे कर सकते हैं?

परन्तु यह बात तुम मुझसे क्यों पूछते हो? तुम्हें सबसे पहले अतिमानस के सिद्धान्त के साथ मेल बैठा कर अपनी शिक्षा-पद्धति को बदलना चाहिये। कम-से-कम तुम्हें प्रयास करना चाहिये। तुम्हें पूछना नहीं चाहिये, तुम्हें करना चाहिये। यदि तुम सर्वदा एक ही ढर्रे से काम करोगे तो अनिश्चित काल तक उसी ढर्रे से बँधे रहोगे। तुम्हें उससे बाहर निकलने का प्रयत्न करना चाहिये। निस्सन्देह, मैं निरन्तर इस विषय पर विचार-विमर्श करती रहती हूँ। मुझे लगता है कि ठीक आज ही या शायद कल मैं इस बात की वकालत कर रही थी कि प्रत्येक व्यक्ति को अज्ञान में बने रहने का

अधिकार है यदि वह उसे पसन्द हो—मैं यहाँ आध्यात्मिक दृष्टिकोण से अज्ञान की बात, हम 'अविद्या' के जिस जगत् में रहते हैं उसकी बात नहीं कह रही, मैं उसकी चर्चा नहीं कर रही। मैं शिक्षा की रूढ़िगत पद्धति से उपजे अज्ञान की बात कह रही हूँ।—हाँ, तो मैं कहती हूँ कि यदि ऐसे लोग हैं जो पढ़ना नहीं चाहते और पढ़ना-लिखना पसन्द नहीं करते, उन्हें न पढ़ने का अधिकार है। केवल उनसे जो बात कहना हमारा कर्तव्य है वह यह है: "अब, तुम उस उम्र में पहुँच गये हो जहाँ तुम्हारा मस्तिष्क तैयार होने की अवस्था में है। वह निर्मित हो रहा है। प्रत्येक नयी वस्तु जो तुम सीखते हो, वह तुम्हारे मस्तिष्क में एक और छोटी-सी कुण्डली बना देती है। जितना ही अधिक तुम अध्ययन करते हो, जितना ही अधिक तुम सोचते हो, जितना ही अधिक तुम मनन करते हो, जितना ही अधिक तुम काम करते हो, तुम्हारा मस्तिष्क भी अपनी कुण्डलियों में उतना ही अधिक बहुविध और पूर्ण बन जाता है। और चूँकि अभी तुम छोटे हो, यही समय है जब यह कार्य उत्तम रूप में साधित होता है।

यही कारण है कि मनुष्य आमतौर पर पढ़ने के लिए बचपन का समय ही चुनते हैं, क्योंकि उसी समय यह कार्य अनन्तगुना अधिक आसान होता है।" और यह स्पष्ट है कि जब तक बच्चा कम-से-कम थोड़ा-सा भी अपने विषय में सचेतन नहीं हो जाता तब तक उसे एक विशेष नियम के अधीन रखना ही होगा, क्योंकि तब तक अपने लिए चुनाव करने की क्षमता उसमें नहीं होती।

बच्चों को चुनाव करना सिखाना

वह उम्र *(चुनाव करने की उम्र)* बहुत अलग-अलग होती है; यह निर्भर करती है लोगों के ऊपर, निर्भर करती है प्रत्येक व्यक्ति के ऊपर। परन्तु फिर भी, यह मानी हुई बात है कि सात वर्ष से चौदह वर्ष के बीच के सात सालों की अवधि में बालक विचार-चिन्तन की उम्र का स्पर्श करना आरम्भ कर देता है। यदि सहायता प्राप्त हो तो बालक सात और चौदह वर्ष के बीच एक चिन्तनशील व्यक्ति बन सकता है।

सात से पहले कुछ प्रतिभाशाली बच्चे होते हैं—सर्वदा और सर्वत्र ही प्रतिभाशाली लोग होते हैं—परन्तु साधारण नियम यही है कि बच्चा अपने

विषय में सचेतन नहीं होता और यह नहीं जानता कि क्यों और कैसे कोई चीज़ की जाती है। वही समय होता है जब उसे दत्तचित्त होना सिखाना चाहिये, जो कुछ वह करता है उस पर एकाग्र होना सिखाना चाहिये, उसके लिए एक छोटा-सा पर्याप्त आधार देना चाहिये ताकि वह बिलकुल एक नन्हें-से पशु के जैसा न हो, बल्कि एक प्रारम्भिक बौद्धिक विकास के द्वारा मनुष्यजाति का एक सदस्य हो सके।

उसके बाद सात वर्षों की अवधि होती है जिसमें उसे चुनाव करना—वह जो कुछ बनना चाहता हो उसका चुनाव करना सिखाना चाहिये। यदि वह एक समृद्ध, बहुविध, सुविकसित मस्तिष्क पाना चाहता हो जो अपने काम-काज में सक्षम हो तो उसे काम करना सिखाना चाहिये; क्योंकि वास्तव में कर्म के द्वारा, चिन्तन-मनन के द्वारा, अध्ययन, विश्लेषण आदि के द्वारा ही मस्तिष्क सुनिर्मित होता है। चौदह वर्ष की उम्र में तुम यह जानने के लिए तैयार हो जाते हो—अथवा तुम्हें तैयार हो जाना चाहिये—कि तुम क्या बनना चाहते हो।

और इसलिए मैं कहती हूँ : यदि उस उम्र के आस-पास कुछ बच्चे सुस्पष्ट रूप में यह घोषित करते हैं : "मुझे बौद्धिक विकास में तनिक भी दिलचस्पी नहीं है, मैं पढ़ना नहीं चाहता, जिसे अज्ञान कहते हैं मैं उसी तरह अज्ञ रहना चाहता हूँ", तो मैं नहीं समझती कि किस अधिकार से हम उन पर पढ़ाई लाद सकते हैं अथवा उन सबका स्तर एक समान करने की आवश्यकता ही क्यों हो।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. २१४-१७

वही पुराना विरोध

इतिहास में 'आत्मा' मौजूद है, विज्ञान में 'आत्मा' मौजूद है—'सत्य' हर जगह है। और ज़रूरत इस बात की है कि उसे ग़लत तरीक़े से नहीं, बल्कि सच्चे तरीक़े से पढ़ाया जाये।...

कोई "आध्यात्मिक जीवन" है ही नहीं! यह वही पुराना विचार है, वही पुराना विचार—एक सन्त है, संन्यासी है,... जो आध्यात्मिक जीवन का प्रतिनिधित्व करता है और बाक़ी सब सामान्य जीवन का—और यह सच नहीं है, यह सच नहीं है, यह बिलकुल भी सत्य नहीं है। अगर उन्हें अब

भी दो चीज़ों के बीच विरोध की ज़रूरत है—क्योंकि बेचारा मन विरोध के बिना काम नहीं कर सकता—अगर उन्हें विरोध की ज़रूरत है, तो वे 'सत्य' और 'मिथ्यात्व' के बीच के विरोध को ले सकते हैं, यह ज़रा ज़्यादा अच्छा है, मैं यह नहीं कहती कि यह पूर्ण है, लेकिन यह ज़रा ज़्यादा अच्छा है। तो, सभी चीज़ों में, सब जगह 'सत्य' और 'मिथ्यात्व' का मिश्रण है: तथाकथित "आध्यात्मिक जीवन" में, संन्यासियों में, स्वामियों में, उन लोगों में जो समझते हैं कि वे धरती पर दिव्य जीवन का प्रतिनिधित्व करते हैं, उन सबमें भी 'सत्य' और 'मिथ्यात्व' का मिश्रण है।

किसी प्रकार का विभाजन न करना ज़्यादा अच्छा होगा।

बच्चों के दिल में, ठीक इसी कारण कि वे बच्चे हैं, भविष्य को जीतने का संकल्प बैठाना, हमेशा आगे देखने और जितनी तेज़ी से हो सके उतनी तेज़ी से... भावी की ओर आगे बढ़ने का संकल्प बैठाना बहुत अच्छा है। लेकिन वे अपने साथ भूतकाल के बोझ का, उसके कष्टकर भारी पाट का पूरा का पूरा असह्य भार न घसीटें। जब हम चेतना और ज्ञान में बहुत ऊँचे हों, तभी पीछे देखना यह जानने के लिए हितकर हो सकता है कि वे कौन-से बिन्दु हैं जहाँ से यह भविष्य अपने-आपको प्रकट करना शुरू करता है। जब हम सारे चित्र को देखें, जब हमारे अन्दर सार्वभौम दृष्टि हो, तब यह जानना रुचिकर होता है कि भविष्य में जो उपलब्धि होगी वह पहले से ही उद्घोषित की जा चुकी है, जैसे, श्रीअरविन्द ने कहा कि दिव्य जीवन धरती पर अभिव्यक्त होगा, क्योंकि वह **पहले ही** 'जड़तत्त्व' की गहराइयों में अन्तर्निहित है; इस दृष्टि से पीछे देखना या नीचे देखना मज़ेदार हो सकता है—यह जानने के लिए नहीं कि क्या हुआ था, या यह जानने के लिए कि मनुष्य क्या जानते थे: यह बिलकुल बेकार है।

बच्चों से कहना चाहिये: अद्भुत चीज़ें अभिव्यक्त होने को हैं, उन्हें ग्रहण करने के लिए अपने-आपको तैयार करो। तब अगर वे कुछ ज़्यादा ठोस, कुछ ज़्यादा सुगम बात जानना चाहें तो तुम कह सकते हो: श्रीअरविन्द इन चीज़ों की घोषणा करने आये थे, तुम जब उनकी कृतियाँ पढ़ सकोगे तब इस बात को समझोगे। तो इससे रुचि जगती है, जानने की इच्छा पैदा होती है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १२, पृ. ४३७-३९

अध्ययन के प्रति मनोभाव

माँ, यह प्रश्न इसलिए उठता है कि हम अपने विद्यालय की पढ़ाई में कभी-कभी बहुत अधिक अरुचि अनुभव करते हैं और अपने-आपसे कहते हैं, "इस सबका क्या उपयोग है?" अतः, किस मनोभाव के साथ हमें अध्ययन करना चाहिये?

मैंने हमेशा कहा है कि अध्ययन का मस्तिष्क पर वही प्रभाव पड़ता है जो व्यायाम का मांसपेशियों पर पड़ता है। उदाहरणार्थ, अपनी मानसिक क्रियाशीलता को सुनम्य, सशक्त और समृद्ध बनाने तथा उसे समझने की एक ऐसी सूक्ष्म शक्ति देने के लिए, जिसे वह तुम्हारे इन व्यायामों के किये बिना प्राप्त न कर पाती, मानसिक व्यायाम बहुत आवश्यक है। अभी कुछ दिन पहले—वस्तुतः काफ़ी पहले से ही—मैंने ध्यान दिया है, उदाहरणार्थ, कि यदि दुर्भाग्यवश मुझे दार्शनिक शब्दों से भरी कोई चीज़ तुम्हारे सामने पढ़नी पड़ती है, या किञ्चित् दार्शनिक दृष्टिकोण के बारे में तुमसे चर्चा करनी पड़ती है तो तुम समझ नहीं पाते। और इसका कारण बस यह है कि तुमने कोई दार्शनिक व्यायाम नहीं किया है। इसका कारण यह नहीं है कि तुम बुद्धिमान् नहीं हो, इसका कारण यह नहीं है कि तुम्हारे अन्दर समझने की योग्यता नहीं है; इसका कारण यह है कि तुमने समुचित व्यायाम नहीं किया है। मैं इसी बात को दूसरे ढंग से कह सकती हूँ : तुमने भाषा नहीं सीखी है। परन्तु वास्तव में शब्द वे ही व्यवहृत होते हैं, केवल उनके बीच थोड़ा-सा भिन्न सम्बन्ध होता है, वाक्यों का मोड़ कुछ भिन्न होता है, वस्तुओं के प्रति एक प्रकार का भिन्न मनोभाव होता है। परन्तु मनोभाव के इस अन्तर को तुम तब तक नहीं पकड़ सकते जब तक कि तुम तदनुरूप व्यायाम नहीं कर लेते। और इस दृष्टान्त को समझना तुम्हारे लिए बहुत आसान है, क्योंकि तुम सब बहुत अच्छी तरह जानते हो कि यदि तुम प्रशिक्षित न होओ तो तुम कभी खेल-कूद की क्रियाएँ नहीं कर सकते। यदि तुम्हारे अन्दर विशिष्ट क्षमताएँ भी हों, यदि तुम प्रतिभा-सम्पन्न भी होओ, यदि तुम अभ्यास न करो और प्रशिक्षित न होओ तो तुम उन्हें नहीं कर सकते। अपने सभी द्रुत कलाबाज़ी के व्यायामों को लो, यदि पहले ही दिन उन्हें करने के लिए तुमसे कहा गया होता तो तुम नहीं कर सकते थे, वह

तुम्हारे लिए एकदम असम्भव होता, और इसे तुम भली-भाँति जानते हो। यदि कोई व्यक्ति सहज भाव से तुमसे कहता : "अच्छा! अब इसे करो"—मान लो, कोई विशेष प्रकार की कूद, जिसे एक समय कलाबाज़ी (फ़्लाइंग समरसॉल्ट) कहते थे—तुम कहोगे : "यह आदमी वास्तव में नासमझ है, यह तो असम्भव है!" हाँ, यह वही बात है; यदि मैं अमुक किताबें लूँ और उन्हें तुम्हारे सामने पढ़ूँ तो तुम उन्हें नहीं समझ सकते क्योंकि तुमने पूर्ण रूप से दार्शनिक-मानसिक व्यायामों की उपेक्षा की है। यह ठीक-ठीक वही बात है कि जिस व्यक्ति ने गणित नहीं किया है, उससे यदि किसी गणित-शास्त्रीय तर्क का अनुसरण करने को कहा जाये तो—वह नहीं कर सकेगा...। और इसलिए, इसका तात्पर्य है कि यदि तुम अपनी सत्ता की गभीर सद्वस्तु को पूरी तरह, सर्वांग रूप में प्रकट करना चाहते हो तो तुम उसे तभी बहुत अधिक पूर्ण रूप से, बहुत अधिक विभिन्न रूप में, बहुत अधिक लाभदायी रूप में अभिव्यक्त करोगे जब तुम्हारी सत्ता के सभी भाग अपने समुचित व्यायामों के द्वारा इस ढंग से पूर्णतः विकसित होंगे।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. ४३६-३७

सत्य की कुछ बूँदें

कभी भूल न करो। कभी आपे से बाहर न होओ। हमेशा समझो।

और करने-लायक़ चीज़ बस, यही है—स्पष्ट रूप से यह जानो और देखो कि यह गति क्यों हुई है, यह आवेग क्यों आया है, बच्चे का आन्तरिक गठन क्या है, कौन-सी चीज़ है जिसे सशक्त बनाना और आगे लाना चाहिये; उन्हें छोड़ दो, खिलने के लिए स्वतन्त्र छोड़ दो; उन्हें बहुत-सी चीज़ें देखने का, बहुत-सी चीज़ें छूने का, यथासम्भव अधिक-से-अधिक चीज़ें करने का अवसर दो। यह बहुत मज़ेदार है। और सबसे बढ़ कर यह कि जिस चीज़ के बारे में तुम समझते हो कि तुम जानते हो, उसे उन पर लादने की कोशिश न करो। उन्हें कभी डाँटो मत। हमेशा समझो, और अगर बालक तैयार है तो समझाओ; अगर वह समझने के लिए तैयार न हो—अगर स्वयं तुम तैयार हो—तो मिथ्या स्पन्दनों के स्थान पर सत्य स्पन्दन रखो। लेकिन यह... अध्यापकों से ऐसी पूर्णता की माँग करना है जो किसी विरले में ही होती है। लेकिन अध्यापकों के लिए एक कार्यक्रम बनाना बहुत मज़ेदार

होगा, एकदम तली से अध्ययन का सच्चा कार्यक्रम,—जो बहुत लचीला हो और जो बहुत गहरे संस्कार देने वाला हो। बहुत छोटी अवस्था में यदि उन्हें सत्य की कुछ बूँदें दी जायें तो सत्ता के विकास के साथ-ही-साथ वे बिलकुल स्वाभाविक रूप से खिलेंगे। यह सुन्दर कार्य होगा।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १२, पृ. ४४१-४२

खेल-कूद का महत्त्व

माँ, क्या खेल-कूद की प्रतियोगिताएँ हमारी प्रगति के लिए आवश्यक हैं?

नैतिक शिक्षा की दृष्टि से वे काफ़ी हद तक आवश्यक हैं, क्योंकि यदि तुम उनमें उचित वृत्ति के साथ भाग ले सको तो यह तुम्हारे लिए अपने अहंकार को वश में करने का एक बहुत अच्छा अवसर है। पर यदि तुम उसमें भाग तो लो पर अपनी दुर्बलताओं और निम्न प्रवृत्तियों को जीतने का कोई प्रयत्न न करो तो स्पष्ट ही तुम उनसे लाभ उठाना नहीं जानते और तब कोई फ़ायदा नहीं होता। लेकिन अगर तुम उचित वृत्ति के साथ खेलने की इच्छा रखते हो, किसी भी निम्न वृत्ति के बिना, ईर्ष्या या महत्त्वाकांक्षा के बिना ऐसे भाव के साथ खेलते हो जिसे "खिलाड़ी का सही भाव" कहते हैं, यानी अपना पूरा प्रयास करते हुए परिणाम की चिन्ता नहीं करते और सफलता न मिलने पर या चीज़ें अपने पक्ष में न होने पर विचलित हुए बिना अपना पूरा-पूरा प्रयास करते हो तो प्रतियोगिता में भाग लेना बहुत उपयोगी है। इन सब प्रतियोगिताओं से तुम्हें महत्तर आत्म-नियन्त्रण और परिणाम के प्रति अनासक्ति के भाव की प्राप्ति हो सकती है जिससे असाधारण चरित्र के गठन में बड़ी सहायता मिलती है। निश्चय ही, यदि तुम इन चीज़ों को सामान्य ढंग से करो, सामान्य प्रतिक्रियाओं और ओछे व्यवहार को बीच में आने दो, तो तुम्हें कुछ भी सहायता नहीं मिलेगी। परन्तु यह बात तो, तुम चाहे जो भी करो, सभी पर लागू होती है; खेल का क्षेत्र हो या बुद्धि का, जो भी हो, यदि व्यक्ति सामान्य ढंग से काम करता है, तो हाँ, वह अपना समय बर्बाद करता है। परन्तु यदि तुम खेलते समय या साम्मुख्यों और प्रतियोगिताओं में भाग लेते समय उचित वृत्ति बनाये रखते हो तो यह एक

बहुत अच्छा प्रशिक्षण है, क्योंकि यह तुम्हें विशेष प्रयत्न के लिए, अपनी सामान्य सीमाओं से थोड़ा आगे बढ़ने के लिए बाधित करता है। निश्चय ही यह एक सुयोग है जिसमें तुम अपनी बहुत-सी प्रवृत्तियों से सचेतन हो सकते हो, अन्यथा वे सदा अचेतन ही बनी रहतीं। परन्तु स्वभावतः, तुम्हें यह नहीं भूलना चाहिये कि इन्हें प्रगति में एक सुयोग और साधन बनाना है। यदि तुम, बस, अपने-आपको ऐसे ही शिथिल छोड़े रखते हो और बिलकुल सामान्य ढंग से खेलते हो तो तुम अपना समय बर्बाद करते हो; पर यह नियम तो प्रत्येक चीज़ के लिए है, केवल इसी के लिए नहीं; पढ़ाई के लिए तथा और सभी चीज़ों के लिए, वे चाहे जो भी हों। सब कुछ **सदा ही** इस पर निर्भर करता है कि काम को किस तरह किया जाता है, इस पर इतना नहीं कि व्यक्ति क्या करता है, बल्कि उस भाव पर जिसमें वह उसे करता है। यदि तुम सब योगी होते और जो कुछ तुम करते उस सबको अपने पूरे परिश्रम और पूरी सामर्थ्य के साथ करते, और साथ ही जितना अब कर सकते हो हमेशा उससे भी और अधिक अच्छा करने की भावना के साथ करते तो स्पष्ट ही प्रतियोगिताओं की, पारितोषिक व पुरस्कार की आवश्यकता न होती, परन्तु जैसा कि श्रीअरविन्द ने लिखा है, छोटे बच्चों से योगी होने की माँग नहीं की जा सकती। और तैयारी के काल में बढ़ावा देने वाली किसी चीज़ का होना ज़रूरी है ताकि अत्यधिक भौतिक चेतना प्रगति के लिए प्रयास कर सके... और यह बाल्यकाल बहुत वर्षों तक चल सकता है! इसमें आदर्श स्थिति वह होगी जो मैंने पिछले 'बुलेटिन' (अप्रैल १९५७) में लिखी है, मुझे मालूम नहीं तुमने उसे पढ़ा है या नहीं, परन्तु मैंने कुछ इस प्रकार की चीज़ लिखी है : कोई महत्त्वाकांक्षा न रखो, सबसे बड़ी बात यह है कि दिखावा न करो, परन्तु प्रति मुहूर्त वह होओ जो अधिक-से-अधिक तुम हो सकते हो। तुम चाहे जो भी करो, सर्वांगीण जीवन की आदर्श स्थिति यही है। और यदि व्यक्ति इसे साध लेता है तो हाँ, निश्चय ही, वह पूर्णता के पथ पर बहुत आगे बढ़ जाता है...। परन्तु, यह स्पष्ट है कि अपनी सारी सच्चाई के साथ इसे कर सकने के लिए एक विशेष आन्तरिक परिपक्वता का होना ज़रूरी है। तुम इसे एक कार्यक्रम के तौर पर अपने सामने रख सकते हो।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ९, पृ. १०६-०८

तर्क-बुद्धि का प्रयोग करना

हाँ, बस इसी चीज़ से बचने के लिए, जब तुम्हारा मस्तिष्क बनने की अवस्था में होता है, तुमसे यह कहा जाता है : इसे ऐसी आदतों (धुँधली वस्तुओं) और अभ्यासों के द्वारा निर्मित होने देने के बदले, अपने मस्तिष्क को थोड़ी यथार्थता, सुनिश्चितता तथा एकाग्र होने, चुनाव करने, निर्णय करने, वस्तुओं को क्रम में रखने की क्षमता प्रदान करने की चेष्टा करो, अपनी तर्क-बुद्धि का प्रयोग करने का प्रयास करो।

निस्सन्देह, यह बात सुपरिचित है कि तर्क-बुद्धि ही मनुष्य की सर्वोपरि क्षमता नहीं है और उसका अतिक्रमण अवश्य करना चाहिये, फिर भी यह बात भी उतनी ही स्पष्ट है कि यदि तुम्हारे अन्दर तर्क-बुद्धि नहीं है तो तुम एक प्रकार का पूर्णतः असम्बद्ध जीवन यापन करोगे, तुम्हें यह भी नहीं मालूम होगा कि युक्तिसंगत ढंग से कैसे व्यवहार किया जाता है। छोटी-से-छोटी बात भी तुम्हें पूरी तरह परेशान कर देगी, और तुम्हें यह भी पता नहीं चलेगा कि ऐसा क्यों हुआ, और उससे भी ज़्यादा यह नहीं मालूम होगा कि इसका उपाय क्या है। जब कि वह व्यक्ति, जिसने अपने अन्दर सक्रिय, सुस्पष्ट विचार की एक स्थिति को स्थापित कर लिया है, सभी प्रकार के आक्रमणों का, भावात्मक आक्रमणों का अथवा किसी भी प्रकार की परीक्षाओं का सामना कर सकता है; क्योंकि जीवन इन सब चीज़ों से—अप्रिय चीज़ों, मामूली कष्टों, परेशानियों से—पूरी तरह भरा हुआ है, जो हैं तो छोटी, पर होती हैं अनुभव करने वाले के अनुपात में, और इसलिए स्वभावतः ही वे उसे बहुत बड़ी अनुभूत होती हैं क्योंकि वे उसके अनुपात में होती हैं। हाँ तो, बुद्धि कुछ दूर पीछे अवस्थित हो सकती है, उस सबका निरीक्षण कर सकती, मुस्कुरा सकती और कह सकती है : "ओह! नहीं, एक इतनी छोटी-सी बात का बतंगड़ नहीं बनाना चाहिये।"

यदि तुम्हारे पास तर्कबुद्धि न हो तो तुम्हारी स्थिति वही होगी जो तूफ़ानी समुद्र के ऊपर एक कॉर्क की होती है। मैं नहीं जानती कि इस अवस्था में कॉर्क को कोई तकलीफ़ होती है या नहीं, परन्तु यह अवस्था मुझे बहुत सुखदायी नहीं प्रतीत होती। ख़ैर।

अब, इतना सब कहने के बाद—और मैंने केवल एक ही बार यह बात तुमसे नहीं कही है बल्कि मैं समझती हूँ कि कई बार कह चुकी हूँ,

और तुम जितनी बार चाहो उतनी बार फिर कहने के लिए तैयार हूँ—इतना कहने के बाद, मैं तुमलोगों को यह चुनाव करने के लिए पूर्ण रूप से स्वतन्त्र छोड़ देना ही उचित समझती हूँ कि तुम तूफ़ानी समुद्र के ऊपर एक कॉर्क होना चाहते हो अथवा तुम वस्तुओं का एक सुस्पष्ट, सुनिश्चित अनुभव और पर्याप्त ज्ञान प्राप्त करना चाहते हो ताकि तुम वहाँ तक—हाँ, वहाँ तक, जहाँ तक कि तुम जाना चाहते हो, जाने में समर्थ हो सको।...

मैं बिलकुल भी उत्सुक नहीं हूँ कि तुम लोग विद्वान् बनो, बिलकुल नहीं! क्योंकि तब मनुष्य दूसरे सीमान्त पर पहुँच जाता है: मनुष्य अपने मस्तिष्क को इतनी अधिक चीज़ों से भर लेता है कि फिर उच्चतर ज्योति के लिए वहाँ कोई स्थान ही नहीं रह जाता; परन्तु एक अत्यल्प मात्रा का होना अपरिहार्य होता है ताकि हम... हाँ, कॉर्क न बन जायें।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. २२०-२१

पाठ्यक्रम तैयार करना

विद्यालय में अमुक पाठ्यक्रम एक वर्ष में समाप्त करना ही होता है। कभी-कभी ज़रा तेज़ी करनी पड़ती है, एक प्रश्न को भली-भाँति समझे बिना ही अगले अध्याय पर जाना होता है।

मेरे बच्चे, इस बात में मैं तुम्हारे साथ पूरी तरह सहमत हूँ। यह बिलकुल ठीक नहीं है। हम इस सबको बदलने की कोशिश करेंगे: मेरी समझ में नहीं आता कि हमें एक पुस्तक एक ही वर्ष में क्यों समाप्त करनी चाहिये। यह बिलकुल मनमानी है। तुम्हें कोई अध्याय तब तक नहीं छोड़ना चाहिये जब तक वह पूरी तरह समझ में न आ जाये। उसके बाद ही दूसरा अध्याय लेना चाहिये, और इसी तरह। अगर कोई अध्याय पूरा हो गया, तो हो गया और नहीं हुआ, तो नहीं हुआ। सच तो यह है कि अध्यापक को अपना पाठ्य-क्रम पाठ्य-पुस्तक के आधार पर कराने की जगह अपने-आप पाठ्य-क्रम बनाने का कष्ट उठाना चाहिये। उसे पर्याप्त ज्ञान होना चाहिये और दिन-प्रतिदिन पाठ तैयार करने का कष्ट उठाना चाहिये और तब वह किसी विषय का पाठ तभी बन्द करेगा जब—मैं यह नहीं कहती कि हर एक समझ लेगा, क्योंकि यह तो असम्भव है—कम-से-कम जिन्हें वह कक्षा

में रस लेने वाले समझता है, वे समझ लेंगे। तब नया विषय लिया जाता है। और अगर यह चलता रहे और कोई विशेष विषय एक साल की जगह दो साल ले ले या कोई और विषय दो साल की जगह डेढ़ में ही पूरा हो जाये तो इसमें कोई हर्ज़ नहीं; क्योंकि यह उसकी अपनी रचना है, उसका अपना बनाया हुआ पाठ्य-क्रम है जिसे वह अपनी कक्षा की आवश्यकता के अनुसार लिखता है। पढ़ाने के बारे में मेरी यही धारणा है। अब, इसकी अपनी कठिनाइयाँ हैं। लेकिन काम करने का सच्चा तरीक़ा यही है। क्योंकि एक किताब लेकर उसी का अनुसरण करने से और विशेषकर ऐसी किताब जो विद्यार्थियों के लिए ज़रा भी अनुकूल न हो... मैं नहीं कहती कि एक विशेष पाठ्य-क्रम सबके लिए अनुकूल हो सकता है, सबको सन्तुष्ट करना असम्भव है। लेकिन कुछ लोग ऐसे हैं जो प्रयास करना चाहते हैं; तुम्हें इनका ख़याल करना चाहिये। जो आलसी, निद्रालु और अकर्मण्य हैं उन्हें तो अपने आलस्य, निद्रालुता और अकर्मण्यता में ही छोड़ दो। अगर वे सारे जीवन सोते रहना चाहते हैं तो सोने दो, जब तक कि कोई चीज़ उन्हें काफ़ी झकझोर कर जगा न दे! लेकिन कक्षा में वह भाग ध्यान देने-योग्य है जो सीखना चाहता है, जो लोग सचमुच सीखना चाहते हैं, कक्षा उन्हीं के लिए ली जानी चाहिये। क्या तुम देखते नहीं कि शिक्षा की वर्तमान पद्धति एक प्रकार से समतल बनाना है; हर एक को उसी स्तर पर होना चाहिये। तो जिन लोगों के सिर ज्यादा ऊँचे हैं उनके सिर काट दिये जाते हैं और जिनके बहुत छोटे हैं उन्हें नीचे से धक्का दिया जाता है। लेकिन इससे कोई लाभ नहीं। तुम्हें उन्हीं की परवाह करनी चाहिये जो ऊपर आते हैं, दूसरे जितना ले सकते हैं, ले लेंगे। और वास्तव में मैं इस बात की कोई ज़रूरत नहीं समझती कि हर एक को एक ही चीज़ का ज्ञान हो—क्योंकि यह स्वाभाविक बात नहीं है। लेकिन जो जानना चाहते हैं और जान सकते हैं, जिन्हें काम करना चाहिये, उन्हें काम करने के पूरे, सब सम्भव साधन दिये जाने चाहियें, उन्हें हमेशा ऊपर उठाना चाहिये और नया भोजन देना चाहिये। वे भूखे हैं, उन्हें खिलाना चाहिये... आह! अगर मेरे पास समय होता तो मैं एक कक्षा लेती। इसमें मुझे बहुत रस आयेगा—यह दिखाने में कि यह कैसे किया जाना चाहिये। लेकिन हम एक ही समय में हर जगह नहीं हो सकते!

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ५, पृ. ११५-१७

परीक्षा लेना दकियानूसी तरीक़ा है

मुझे लगता है कि परीक्षा यह जानने का दकियानूसी और व्यर्थ उपाय है कि विद्यार्थी समझदार, इच्छुक और एकाग्र हैं या नहीं। यदि स्मरण-शक्ति अच्छी हो तो एक मूढ़, यान्त्रिक मन भी परीक्षा में अच्छी तरह से उत्तीर्ण हो सकता है और निश्चय ही भावी मनुष्य के लिए इन गुणों की ज़रूरत नहीं। पुरानी आदतों के प्रति सहिष्णुता के कारण मैं इस बात के लिए राज़ी हो गयी थी कि जो परीक्षा जारी रखना चाहें वे रख सकते हैं। लेकिन मैं आशा करती हूँ कि आगे चल कर इस सुविधा की ज़रूरत न रहेगी। अगर परीक्षाएँ हटा दी जायें, तो यह जानने के लिए कि क्या विद्यार्थी अच्छा है, अध्यापक को ज़रा अधिक आन्तरिक सम्पर्क और मनोवैज्ञानिक ज्ञान की ज़रूरत होगी। लेकिन हमारे अध्यापकों से यह आशा की जाती है कि वे योग करते हैं, अतः उनके लिए यह कठिन न होना चाहिये।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १२, पृ. २२०

माताजी, सिद्धान्ततः, यह वही चीज़ है जिसके बारे में हम विचार कर रहे हैं—अगले साल सभी बच्चों को उनकी मातृभाषा के अतिरिक्त, संस्कृत पढ़ायेंगे।

हाँ। लेकिन पाण्डित्य के स्तर की संस्कृत नहीं, बल्कि वह संस्कृत, वह संस्कृत—कैसे कहूँ?—जो भारत की सभी भाषाओं के लिए द्वार खोलती है। मेरे ख़याल से यह अनिवार्य है। आदर्श तो यह होगा कि, कुछ सालों में, एक नवविकसित कायाकल्प-प्राप्त संस्कृत, यानी, बोलचाल की संस्कृत भारत की प्रतिनिधि भाषा हो—भारत की सभी भाषाओं के पीछे संस्कृत दिखायी देती है और ऐसा ही होना चाहिये।...

इसलिए मैं चाहती हूँ कि यहाँ सरल संस्कृत पढ़ायी जाये, जितनी सरल हो सके उतनी, लेकिन ऐसी नहीं जिसका "सरलीकरण" कर दिया गया हो—बल्कि ऐसी सरल जो अपने मूल के अनुरूप हो... ये ध्वनियाँ, मूल ध्वनियाँ जिनसे बाद में शब्द बने हैं।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १२, पृ. ४५२-५३

अन्तरात्मा पर आधारित शिक्षा

ऐसा गुण जिसे विकसित करना चाहिये

एक और गुण है जिसे बहुत छोटी उम्र से ही बच्चों में पैदा करना चाहिये : वह है व्याकुलता को, नैतिक असन्तुलन को अनुभव करने का अभ्यास जिसे वह उस समय अनुभव करता है जब वह कोई काम कर डालता है, इसलिए नहीं कि उससे उसे न करने के लिए कहा गया था, इसलिए नहीं कि वह दण्ड से डरता है, बल्कि सहज-स्वाभाविक भाव से अनुभव करता है। उदाहरणार्थ, एक बच्चा दुष्टतावश अपने एक साथी को चोट पहुँचाता है, अब, यदि वह अपनी सामान्य, स्वाभाविक स्थिति में है तो बेचैनी अनुभव करेगा, अपने मर्मस्थल तक दुःख अनुभव करेगा, क्योंकि उसने जो कुछ किया है वह उसके आन्तरिक सत्य के विपरीत है।

कारण, समस्त शिक्षाओं के बावजूद, विचार-बुद्धि जिन सब चीज़ों को सोच-समझ सकती है उन सबके बावजूद, उसकी सत्ता की गहराई में कोई ऐसी चीज़ है जिसमें एक पूर्णता का, महानता का, सत्य का बोध है और इस सत्य का विरोध करने वाली समस्त गतिविधियों के द्वारा उसका दुःखद रूप में खण्डन किया गया है। यदि बच्चा अपनी परिस्थितियों के द्वारा, अपने चारों ओर के शोचनीय उदाहरणों के द्वारा बिगाड़ा नहीं गया है, अर्थात्, यदि वह अपनी सामान्य अवस्था में है तो वह अपनी सत्ता के सत्य के विपरीत कोई बात करने पर, सहज भाव से, किसी के कुछ कहे बिना, एक प्रकार की बेचैनी अनुभव करेगा। और ठीक यही चीज़ है जिस पर आगे चल कर उसकी प्रगति का प्रयास आधारित होना चाहिये।

एक ही सच्चा मार्गदर्शक

बस एक ही सच्चा मार्गदर्शक है और वह है, आन्तरिक पथ-प्रदर्शक, जो मानसिक चेतना के रास्ते से होकर नहीं गुज़रता। स्वभावतः ही, जब कोई बच्चा सर्वनाशी शिक्षा प्राप्त करता है तो वह अपने अन्दर की इस नन्हीं-सी सच्ची सत्ता को बुझा देने का अधिकाधिक प्रयास करता है, और कभी-कभी तो वह इतना सफल हो जाता है कि उसके साथ अपना समस्त सम्पर्क खो बैठता है और साथ-ही-साथ भले-बुरे को पहचानने की शक्ति

भी खो देता है। यही कारण है कि मैं इस चीज़ पर इतना अधिक ज़ोर देती हूँ और यह कहती हूँ कि बिलकुल बचपन से ही बच्चों को यह सिखाना चाहिये कि उनके अन्दर, पृथ्वी के अन्दर, विश्व के अन्दर एक आन्तर सत्य विद्यमान है, और इस सत्य की क्रिया के फलस्वरूप ही वे, यह पृथ्वी और यह विश्व अपना जीवन धारण करते हैं; यदि वह सत्य न होता तो बच्चा कभी जीवित न रहता, थोड़े समय तक जो वह जीता है उतना भी न जी पाता, और प्रत्येक चीज़ जैसे ही अस्तित्व में आती वैसे ही विलीन हो जाती। और चूँकि यही विश्व का सच्चा आधार है, इसलिए स्वभावतः इसी की विजय होगी; और जो कुछ इसका विरोध करता है वह उतने दिन तक नहीं बना रह सकता जितने दिन यह बना रहता है, क्योंकि यह 'तत्' है, शाश्वत वस्तु है जो विश्व के मूल में विद्यमान है।

निस्सन्देह, प्रश्न यह नहीं है कि बच्चे को दार्शनिक व्याख्याएँ बतायी जायें, पर उसे भली-भाँति यह अनुभूति दी जा सकती है कि जो अपने अन्दर की इस नन्हीं, बहुत नीरव वस्तु का अनुसरण करने से इस प्रकार के आन्तरिक सुख-सन्तोष और कभी-कभी तीव्र हर्ष का अनुभव कराती है, वही चीज़ उसे अपने विपरीत कोई कार्य करने से रोकेगी। इसी प्रकार के अनुभव पर शिक्षा आधारित हो सकती है। बच्चे के अन्दर यह धारणा बैठा देनी चाहिये कि जब तक वह अपने अन्दर यह सच्चा सन्तोष नहीं प्राप्त कर लेता, जो एकमात्र स्थायी वस्तु है, तब तक कोई चीज़ स्थायी नहीं हो सकती।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ४, पृ. २९-३०

बच्चों को स्वयं को जानना सिखाना

मुख्यतः, **एकमात्र कार्य** जो तुम्हें अध्यवसाय के साथ करना चाहिये वह है उन्हें अपने-आपको जानना और अपने निजी लक्ष्य को, उस पथ को चुनना सिखाना जिसका वे अनुसरण करेंगे। उन्हें स्वयं अपनी ओर देखना, अपने-आपको समझना तथा वे जो कुछ बनना चाहते हैं उसके लिए संकल्प करना सिखाना होगा। यह चीज़ उन्हें यह सिखाने की अपेक्षा अनन्तगुना अधिक महत्त्वपूर्ण है कि पुराने युगों में पृथ्वी पर क्या हुआ, या यहाँ तक कि पृथ्वी का कैसे निर्माण हुआ, अथवा... निस्सन्देह, वे सब

बातें जो संसार में साधारण जीवन बिताने की इच्छा रखने वाले लोगों के लिए बिलकुल आवश्यक आधार हैं, क्योंकि यदि तुम उन्हें न जानो तो तुरत कोई भी व्यक्ति तुम्हें बौद्धिक रूप से अपमानित कर देगा: "ओह, यह मूर्ख है, यह कुछ नहीं जानता।"

परन्तु फिर भी, चाहे किसी भी आयु में, यदि तुम परिश्रमी हो और तुममें इसे करने का संकल्प हो तो तुम पुस्तकें ले सकते और अध्ययन कर सकते हो; तुम्हें उसके लिए विद्यालय में जाने की आवश्यकता नहीं है। संसार में तुम्हें सब प्रकार की बातें सिखाने के लिए पर्याप्त पुस्तकें हैं। यहाँ तक कि, आवश्यकता से कहीं अधिक पुस्तकें हैं। तुम बस मेधानन्द (श्रीअरविन्द आश्रम-पुस्तकालय के अध्यक्ष का नाम) के यहाँ जाकर सभी विषयों की जानकारी प्राप्त कर सकते हो। तुम्हें उनके विषय में इतनी अधिक जानकारी प्राप्त हो जायेगी कि तुम अपने को यहाँ तक *(संकेत)* भर सकते हो! परन्तु जो चीज़ बहुत महत्त्वपूर्ण है वह है यह जानना कि तुम क्या चाहते हो। और इसके लिए आवश्यक है कि मनुष्य को कम-से-कम कुछ तो स्वाधीनता प्राप्त हो। मनुष्य को किसी भी दबाव या बन्धन के अधीन नहीं होना चाहिये। उसे सम्पूर्ण हृदय से कार्य करने के योग्य होना चाहिये। अगर तुम आलसी हो, तो हाँ, तुम जानोगे कि आलसी होने का क्या अर्थ होता है...। तुम जानते हो, जीवन में आलसी व्यक्तियों को दूसरों की अपेक्षा दसगुना अधिक कार्य करने के लिए विवश होना पड़ता है, क्योंकि वे जो कुछ करते हैं, बुरी तरह से करते हैं, अतएव वे उसे फिर से करने के लिए बाध्य होते हैं। परन्तु ये चीज़ें ऐसी हैं जिन्हें मनुष्य को अनुभव से सीखना पड़ता है। ये चीज़ें तुम्हारे मस्तिष्क में भरी नहीं जा सकतीं।

मन को नियन्त्रण में रखना सीखना

मन को यदि नियन्त्रित न रखा जाये तो वह ऊपर-ऊपर तैरता हुआ, अस्पष्ट वस्तु-जैसा होता है। यदि हमें उसे किसी वस्तु पर एकाग्र करने का अभ्यास न हो तो वह सारे समय घूमता-फिरता रहता है। वह बिना रुके कहीं भी चलता जाता है और अनिश्चितता के एक जगत् में विचरण करता रहता है। और फिर, जब कोई अपना ध्यान स्थिर करना चाहता है तो इससे उसे चोट पहुँचती है! इसके लिए उसे थोड़ा प्रयास करना पड़ता

है, उसे ऐसा लगता है : "ओह! कितना थकाने वाला है यह, यह तो चोट पहुँचाता है!" अतएव मनुष्य उसे नहीं करता। और वह एक प्रकार की मेघाच्छन्न अवस्था में रहता है। और तुम्हारा मस्तिष्क भी मेघ के जैसा होता है; वह वैसा ही होता है; अधिकांश मस्तिष्क मेघ के जैसे ही होते हैं : उनमें कोई भी सुनिश्चितता, कोई भी यथार्थता, कोई भी सुस्पष्टता नहीं होती, वे धुन्धभरे होते हैं—अस्पष्ट और धुँधले। तुम्हें वस्तुओं के ज्ञान की अपेक्षा कहीं अधिक उनके आभास होते हैं। तुम एक प्रकार की अनुमान की स्थिति में रहते हो, और उस समय तुम अपने मस्तक में सभी प्रकार के विरोधी विचारों को बनाये रख सकते हो जो कि अधिकतर संस्कारों, संवेदनों, भावनाओं, आवेगों से—ऐसी ही सभी प्रकार की चीज़ों से बने होते हैं, जिनका विचार के साथ बहुत थोड़ा-सा ही सम्बन्ध होता है और... जो यथार्थतः आवारागर्दी, "विक्षिप्तावस्था" है। परन्तु यदि तुम अमुक विषय पर यथार्थ, ठोस, स्पष्ट, निश्चित विचार करने में सफल होना चाहो तो तुम्हें उसके लिए प्रयास करना होगा, अपने-आपको एकत्र करना होगा, अपने-आपको स्थिर करना होगा, एकाग्र होना होगा। और जब तुम पहली बार इसे करते हो तो यह अक्षरशः चोट पहुँचाता है, थका देता है! परन्तु तुम यदि इसका अभ्यास न डालो तो सारे जीवन तुम एक दोलायमान स्थिति में निवास करोगे। और जब तुम्हारे मन के सामने व्यावहारिक बातें आयेंगी, जब वे बातें तुम्हारे सम्मुख उपस्थित होंगी—क्योंकि सब कुछ के बावजूद, मनुष्य के सामने सर्वदा ही कुछ समस्याएँ उपस्थित होती ही हैं—जिन्हें हल करना होता है, जो बिलकुल व्यावहारिक ढंग की होती हैं, हाँ, तब तुम समस्या के सभी पहलुओं को समझने, उन्हें पास-पास रखने, प्रश्न को सभी दृष्टिकोणों से देखने, और फिर उससे ऊपर उठ कर समाधान देखने में समर्थ नहीं होओगे, उसके बदले तुम किसी धुँधली और अनिश्चित वस्तु के चक्कर में उछलने-गिरने लगोगे, और तुम्हें ऐसा लगेगा कि कितने सारे मकड़े तुम्हारे मस्तिष्क में चारों ओर दौड़ रहे हैं—परन्तु तुम उस चीज़ को पकड़ने में सफल नहीं होओगे। मैं सबसे सरल समस्याओं की बात कर रही हूँ, समझे; मैं संसार या मानवता के भाग्य के निर्णय करने की, यहाँ तक कि किसी देश के भाग्य का निर्णय करने की बात नहीं कर रही —उस प्रकार की एकदम किसी बात की चर्चा नहीं कर रही। मैं तुम्हारे

दैनिक जीवन की, प्रतिदिन की समस्याओं की चर्चा कर रही हूँ। वे एकदम धुँधली-सी वस्तु बन जाती हैं।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. २१८-२०

आन्तरिक सत्य के प्रति सचेतन होना

क्या कोई बच्चा एक वयस्क की तरह इस आन्तरिक सत्य के प्रति सचेतन हो सकता है?

बच्चे के लिए यह बिलकुल स्पष्ट है, क्योंकि यह शब्द या विचार की किसी जटिलता से रहित एक प्रकार का बोध है—बस, वहाँ वह चीज़ होती है जो उसे चैन देती है और वह चीज़ होती है जो उसे बेचैन बनाती है (यह आवश्यक रूप से हर्ष या शोक नहीं है जो केवल तभी आते हैं जब बात बहुत तीव्र होती है)। और यह सब एक वयस्क की अपेक्षा बच्चे में बहुत अधिक सुस्पष्ट होता है, क्योंकि वयस्क में सर्वदा ही मन होता है जो कार्य करता है और उसके सत्य-बोध को मेघाच्छन्न कर देता है। बच्चे को सिद्धान्त बतलाना एकदम निरर्थक है, क्योंकि ज्यों ही उसका मन जाग्रत् होगा, वह तुम्हारे सिद्धान्तों को काटने के लिए हज़ारों युक्तियाँ खोज लेगा, और इस विषय में वह ठीक होगा। बच्चे के अन्दर की यह छोटी-सी सत्य वस्तु उसके चैत्य पुरुष में विराजमान भागवत 'उपस्थिति' है—यह पौधों और जानवरों में भी होती है। पौधों में यह सचेतन नहीं होती, जानवरों में सचेतन होना आरम्भ करती है, और बच्चों में बहुत सचेतन होती है। मैं ऐसे बच्चों से मिली हूँ जो पाँच वर्ष की अवस्था में अपने चैत्य पुरुष के विषय में अपनी १४ वर्ष की अवस्था की अपेक्षा बहुत अधिक सचेतन थे, और १४ वर्ष में २५ वर्ष की अपेक्षा अधिक सचेतन थे; और अधिकतर, जिस क्षण से बच्चे विद्यालय जाते हैं जहाँ वे उस ढंग का तीव्र मानसिक प्रशिक्षण पाते हैं जो उनका ध्यान उनकी सत्ता के बौद्धिक अंश की ओर खींच ले जाता है, वे लगभग सर्वदा और लगभग पूर्ण रूप में अपने चैत्य पुरुष के साथ का यह सम्पर्क खो देते हैं। यदि तुम केवल एक अनुभवी निरीक्षक होते, यदि तुम केवल आँखों में ताक कर बता सकते कि व्यक्ति के अन्दर क्या चल रहा है!...ऐसा कहा जाता है कि आँखें अन्तरात्मा का दर्पण हैं; यह कहने का एक प्रचलित ढंग है, किन्तु यदि आँखें तुम्हारे

सामने चैत्य पुरुष को प्रकट नहीं करतीं तो इसका कारण यह है कि वह बहुत दूर पीछे की ओर है, बहुत-सी चीज़ों से ढका हुआ है। तब, सावधानी के साथ छोटे बच्चों की आँखों में ताको और तुम एक प्रकार की ज्योति देखोगे—कुछ लोग उसे स्पष्टता या सरलता कहते हैं—पर इतनी सच, इतनी सच! वह संसार को आश्चर्य के साथ ताकता है। हाँ, आश्चर्य का यह भाव, चैत्य पुरुष का आश्चर्य है जो सत्य को देखता है पर संसार के विषय में बहुत नहीं समझता, क्योंकि वह इस संसार से बहुत दूर है। बच्चों में यह चीज़ होती है पर जैसे-जैसे वे अधिक सीखते हैं, अधिक बुद्धिमान् बनते हैं, अधिक शिक्षित होते हैं, यह चीज़ लुप्त हो जाती है, और तुम उनकी आँखों में सभी प्रकार की चीज़ें देखते हो : विचार, कामनाएँ, आवेग, दुष्टताएँ, आदि—परन्तु इस प्रकार की नन्हीं लौ, जो इतनी पवित्र होती है, अब वहाँ नहीं होती। और तुम निश्चित रूप से यह जान सकते हो कि वहाँ मन घुस आया है और चैत्य पुरुष बहुत दूर पीछे चला गया है।

जिस बच्चे में अभी समझ सकने-योग्य पर्याप्त विकसित मस्तिष्क नहीं है उसकी ओर यदि तुम संरक्षण या स्नेह या शुभेच्छा या संवेदना का एक स्पन्दन भेजो तो तुम देखोगे कि वह भी प्रत्युत्तर देता है। परन्तु तुम यदि, उदाहरणार्थ, एक चौदह वर्ष के लड़के को लो जो विद्यालय में पढ़ता है, जिसके माता-पिता सामान्य लोग हैं और जिसके साथ बुरा व्यवहार होता रहा है, तो उसका मन बहुत अधिक सामने की ओर होगा; उसमें कोई कठोर चीज़ होती है, चैत्य पुरुष पीछे की ओर चला जाता है। ऐसे लड़के स्पन्दन का प्रत्युत्तर नहीं देते। हम कहेंगे कि वे काठ या पत्थर से बने हैं।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ४, पृ. ३०-३२

यदि हम अपने जीवन्त उदाहरण के द्वारा अपनी सिखायी बातों का सत्य बच्चे को न दिखा दें तो केवल अच्छी बातें कहने और बुद्धिमानी का परामर्श देने का उस पर बहुत थोड़ा प्रभाव पड़ता है। सच्चाई, ईमानदारी, स्पष्टवादिता, साहस, निष्काम-भाव, निःस्वार्थता, धैर्य, सहनशीलता, अध्यवसाय, शान्ति, स्थिरता, आत्म-संयम आदि सभी ऐसे गुण हैं जो सुन्दर भाषणों की अपेक्षा अनन्तगुना अधिक अच्छे रूप में अपने उदाहरण के द्वारा सिखाये जाते हैं।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १२, पृ. ११

दैनन्दिन जीवन का विद्यालय

प्रत्येक दिन, प्रत्येक मुहूर्त का जीवन समस्त पाठशालाओं से बढ़ कर होता है; वह होता है बहुविध और जटिल, अदृष्ट-पूर्व अनुभवों से, समाधान के लिए प्रस्तुत समस्याओं से, स्पष्ट और प्रभावक उदाहरणों से तथा प्रत्यक्ष परिणामों से भरपूर। अगर तुम बच्चों के पूछे हुए असंख्य प्रश्नों का बुद्धिमानी तथा स्पष्टता के साथ उत्तर दे सको तो उनमें बड़ी आसानी से एक स्वस्थ जिज्ञासा की वृत्ति जगायी जा सकती है। कोई भी मज़ेदार उत्तर अपनी शृंखला में अन्यान्य चीज़ों को खींच ले आता है और बच्चा, ध्यान से सुनने के कारण, बिना किसी प्रयास के बहुत अधिक, कक्षा में बैठ कर साधारणतया जो कुछ सीखता है उससे बहुत अधिक सीख जाता है। सावधानी तथा बुद्धिमानी के साथ पुस्तकों का चुनाव करने से भी तुम बच्चे में लाभदायी चीज़ें पढ़ने की रुचि उत्पन्न कर सकते हो जो एक साथ ही शिक्षाप्रद और आकर्षक होती है। तुम्हें ऐसी किसी चीज़ से डरना नहीं चाहिये जो बच्चे की कल्पना-शक्ति को जगाती और सन्तुष्ट करती है; कल्पना ही वह चीज़ है जो सर्जनशील मानसिक प्रतिभा को विकसित करती है तथा अध्ययन को जीवन्त वस्तु बना देती है और जिससे मन आनन्द के साथ वर्द्धित होता है।

मन की नमनीयता और विशालता बढ़ाने के लिए हमें केवल अनेक और बहुविध विषयों के अध्ययन की ओर ही नहीं, बल्कि, विशेषकर, एक ही विषय पर विभिन्न दिशाओं से विचार करने की ओर भी ध्यान देना चाहिये। ऐसा करने से बालक व्यावहारिक तरीक़े से यह समझ जायेगा कि एक ही बौद्धिक समस्या का सामना, निपटारा तथा समाधान करने के बहुत-से रास्ते हैं। इस तरह उसका मस्तिष्क सब प्रकार की कठोरता से मुक्त हो जायेगा और, साथ-ही-साथ उसकी चिन्तनशक्ति अधिक समृद्ध तथा नमनीय हो जायेगी और कहीं अधिक बहुमुखी एवं व्यापक समन्वय के लिए तैयार हो जायेगी। इस तरीक़े से बच्चे में यह भाव भी भरा जा सकता है कि मानसिक ज्ञान अत्यन्त सापेक्षिक वस्तु है और फिर धीरे-धीरे ज्ञान के एक अधिक सच्चे उद्‌गम के लिए उसमें अभीप्सा जग सकती है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १२, पृ. ३०-३१

शिक्षा के सूत्र

मैं सभी बच्चों के साथ एक-सा व्यवहार करने के पक्ष में नहीं हूँ। इससे एक जैसा स्तर तो बन जाता है, यह पिछड़े हुए बच्चों के लिए लाभदायक होता है पर जो सामान्य ऊँचाई से ऊपर उठ सकते हैं उनके लिए हानिकर होता है।

जो काम करना और सीखना चाहते हैं उन्हें प्रोत्साहन देना चाहिये, लेकिन जो पढ़ाई-लिखाई से कतराते हैं उनकी शक्ति को किसी और दिशा में मोड़ देना चाहिये।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १७, पृ. ४१४

बच्चे को कभी डाँटना-फटकारना नहीं चाहिये। माता-पिताओं की बुराई करने के लिए मुझे दोष दिया जाता है! परन्तु मैंने उन्हें यह करते हुए देखा है, और हाँ, मैं जानती हूँ कि नब्बे प्रतिशत माता-पिता उस बच्चे को डाँटते-फटकारते हैं जो अपने-आप कोई भूल स्वीकार करने के लिए आता है; वे बच्चे की बात धैर्यपूर्वक सुनने के बजाय और उसे यह समझाने के बजाय कि उसका दोष क्या है और उसे कैसे कार्य करना चाहिये, कहते हैं: "तुम बड़े दुष्ट हो, चले जाओ, मुझे अभी फ़ुरसत नहीं।" और बच्चा, जो कि अच्छी भावना के साथ आया था, बिलकुल आहत होकर लौट जाता है और यह भावना लेकर जाता है कि "भला मेरे साथ ऐसा व्यवहार क्यों किया गया?" तब बच्चा यह देखता है कि मेरे माता-पिता पूर्ण नहीं हैं—और यह बात स्पष्ट ही आज उनके विषय में सही है—वह देखता है कि वे ग़लत हैं और वह अपने-आपसे कहता है: "वे मुझे क्यों डाँटते हैं, वे भी तो मेरे जैसे ही हैं!"

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ४, पृ. ३३-३४

बच्चों को प्रेम और मृदुता के वातावरण में शिक्षा देनी चाहिये।

मार-पीट नहीं, कभी नहीं।

डाँट-डपट नहीं, कभी नहीं।

हमेशा मृदु सहृदयता, और अध्यापक को उन गुणों का **जीता-जागता**

उदाहरण होना चाहिये जिन्हें बच्चों को प्राप्त करना है।

बच्चों को विद्यालय जाते हुए **ख़ुश** होना चाहिये, सीखते हुए **ख़ुश** होना चाहिये, और अध्यापक को उनका सबसे अच्छा मित्र होना चाहिये जो उनके आगे उन गुणों का उदाहरण रखता है जो उन्हें प्राप्त करने चाहियें।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १२, पृ. २१३

मैं जिस स्वतन्त्रता की बात करती हूँ वह है, आत्मा के संकल्प का अनुसरण करने की स्वतन्त्रता, मानसिक और प्राणिक सनकों और कल्पनाओं पर चलने की स्वतन्त्रता नहीं।

मैं जिस स्वतन्त्रता की बात करती हूँ वह है, आडम्बरहीन सत्य जो निम्नतर, अज्ञानमयी सत्ता की सभी दुर्बलताओं और इच्छाओं पर विजय प्राप्त करने की प्रवृत्ति रखता है।

मैं जिस स्वतन्त्रता की बात करती हूँ वह है, व्यक्ति की अपनी उच्चतम, श्रेष्ठतम और दिव्यतम अभीप्सा के प्रति पूर्ण और निःशेष भाव में निवेदित करने की स्वतन्त्रता।

तुममें से कौन इस मार्ग का सच्चाई से अनुसरण करता है? मत बना लेना तो सरल है, किन्तु बात को समझना अधिक कठिन है और चरितार्थ करना तो इससे भी कहीं अधिक कठिन है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १२, पृ. ४२५-२६

दो चीज़ें करने की ज़रूरत है। बच्चों को यह सिखाना चाहिये :

क) परिणाम चाहे कुछ भी क्यों न हो, वे कभी झूठ न बोलें;

ख) उग्रता, कोप, क्रोध पर संयम रखें।

अगर ये दो चीज़ें की जा सकें तो वे अतिमानवता की ओर ले जाये जा सकते हैं।

ऐसा माना जाता है कि अगर हम परम्पराओं और बन्धनों को तोड़ दें तो हम सामान्य मानवजाति की सीमाओं से मुक्त हो जाते हैं। लेकिन यह ग़लत है।

जिसे हम "अतिमानव" कह सकते हैं वह होने के लिए इन दो चीज़ों को पाना जरूरी है : **झूठ न बोलना और अपने-आपको वश में रखना**।

भगवान् के लिए सम्पूर्ण भक्ति सबसे अन्तिम अवस्था है, लेकिन ये दो बातें पहले चरितार्थ करनी होंगी।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १२, पृ. १६९

हर जीवित प्राणी के लिए अपने-आपको जानना और अपने ऊपर काबू रखना सीख लेना एक अमूल्य सम्पदा है। अपने-आपको जानने का अर्थ है, अपनी क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं का हेतु जानना, अपने अन्दर जो कुछ होता है उसका 'क्यों' और 'कैसे' जानना। अपने-आप पर काबू पाने का अर्थ है, जो निश्चय कर लिया है वही करना, उसके अतिरिक्त कुछ नहीं, आवेगों, कामनाओं या सनकों की न तो सुनना और न उनका अनुसरण करना।

स्पष्ट है कि किसी बालक को नैतिक नियम बतलाना कोई आदर्श चीज़ नहीं है; लेकिन उसके बिना काम चलाना बहुत कठिन है। जैसे-जैसे बच्चा बढ़ता जाये, उसे सभी नैतिक और सामाजिक नियमों की सापेक्षता बतलायी जा सकती है ताकि वह अपने अन्दर एक उच्चतर और सत्यतर नियम को पा सके। लेकिन इस मामले में सावधानी से आगे बढ़ना चाहिये और सच्चे नियम को खोज पाने की कठिनाई पर ज़ोर देना चाहिये। जो मानव विधि-विधान को अस्वीकार करके अपनी स्वाधीनता की घोषणा करते हैं और कहते हैं कि वे "अपना ही जीवन जीते हैं" उनमें से अधिकतर अति सामान्य प्राणिक गतिविधि की आज्ञा के अनुसार चलते हैं और उसे अपनी नज़रों में न सही, कम-से-कम दूसरों की नज़रों में छद्मरूप देकर न्यायसंगत ठहराने की कोशिश करते हैं। वे नैतिकता को सिर्फ़ इसलिए ठोकर मारते हैं क्योंकि वह उनकी सहज वृत्तियों की तुष्टि में बाधक होती है।

किसी को नैतिक और सामाजिक विधानों के बारे में कोई निर्णय करने का अधिकार तब तक नहीं है जब तक कि वह उनसे ऊपर का आसन न पा ले; व्यक्ति उन्हें तब तक नहीं छोड़ सकता जब तक कि उनके स्थान पर कोई ज़्यादा ऊँची चीज़ प्रतिष्ठित न कर ले, जो इतना आसान नहीं है।

जो हो, बच्चे को हम जो अच्छे-से-अच्छा उपहार दे सकते हैं वह है, उसे अपने-आपको जानना और अपने ऊपर शासन करना सिखलाना।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १२, पृ. १८२-८३

फ़ादर फ़लैनैगन की अग्नि-परीक्षा

('रीडर्स डाइजेस्ट' पत्रिका के फ़रवरी १९४७ अंक में यह कहानी छपी थी। अनुवादक अज्ञात हैं, लेकिन हम इसे 'बच्चे का लालन-पालन कैसे करें' नामक पुस्तिका से ज्यों का त्यों उद्धृत कर रहे हैं।—सं.)

"कोई भी बच्चा बुरा नहीं होता"—और तब एडी रंगमंच पर उपस्थित हुआ।

वह सर्दियों की एक रात थी जब दुनिया-भर में "बालनगर" के नाम से विख्यात नेब्रास्का में लम्बी दूरी से आने वाले सन्देश के लिए दूरभाष की घण्टी बज उठी।

"फ़ादर फ़लैनैगन? मैं वर्जीनिया से शेरिफ़ होजी बोल रहा हूँ। क्या आपके यहाँ एक और लड़के की तत्काल भर्ती के लिए स्थान रिक्त है?"

"वह लड़का इस समय कहाँ है?"

"वह जेल में है। वह बहुत ही उद्दण्ड स्वभाव का है। उसने एक बैंक को लूटा है और पिस्तौल के बल पर तीन स्टोरों में डाका डाला है।"

"उसकी उम्र क्या है?"

"साढ़े आठ वर्ष।"

यह सुन कर फ़ादर सकते में आ गये, पूछा—

"क्या कहा आपने?"

"साढ़े आठ वर्ष। लेकिन इससे आप किसी संशय में न पड़ें। उसके विषय में मैंने जो कुछ कहा है वह वैसा ही है—बल्कि उससे भी कुछ बढ़-चढ़ कर है। क्या आप मेरे कन्धों का भार हलका करके उसकी ज़िम्मेवारी अपने कन्धों पर लेंगे?"

रेवरेंड एडवर्ड जोज़ेफ़ फ़लैनैगन वर्षों से, चकित और परेशान समाज के हाथों से अलग-अलग उम्र के, धर्म, सम्प्रदाय के अनचाहे लड़कों का दायित्व अपने हाथों में लेते आ रहे थे। उन्होंने उत्तर दिया:

"यदि मैं साढ़े आठ वर्ष के लड़के को नहीं सँभाल सकता तो मुझे इस काम से ही हाथ धो लेने चाहियें। आप उस लड़के को लाइये।"

तीन दिन बाद शेरिफ़ होजी और उसकी पत्नी अपने बन्दी को फ़ादर फ़लैनैगन के कार्यालय में ले आये। वह अस्वाभाविक रूप में विवर्ण लड़का

था, बगल में एक गठरी दबाये हुए था। वह मेज़ के बराबर ऊँचा था। उसके दुर्गन्धयुक्त चॉकलेटी, रूखे बाल उसके शुष्क चेहरे पर छितराये हुए थे। उसकी निष्प्रभ भूरी आँखें उसकी दीर्घ, काली पलकों से आधी ढकी थीं। उसके मुँह के एक कोने में सिगरेट नाटकीय अन्दाज़ में अटकी हुई थी। "सिगरेट का बुरा न मानियेगा" शेरिफ़ ने कहा, "उसे सिगरेटों की घूस हमें विवश होकर देनी पड़ी।"

शेरिफ़ की पत्नी ने मेज़ पर एक लम्बा-सा लिफ़ाफ़ा रखा।

"इसमें इसके बारे में पूरी रिपोर्ट है" उसने कहा, "और यह उसकी कहानी का अर्धांश भी नहीं है। यह नितान्त घोर अपराधी इस योग्य नहीं है कि इसकी मदद की जाये। मेरी निजी राय तो यह है कि यह मानव-सन्तान ही नहीं है। हमारा नमस्कार स्वीकारें। हम प्रार्थना करते हैं कि भगवान् आपके सहायक हों। आप अवश्य ही ऐसी सहायता की ज़रूरत महसूस करेंगे!"

फ़ादर फ़्लैनैगन का हृदय भगवान् और मानव-मात्र के प्रेम से लबालब भरा था; बच्चों से तो उन्हें विशेष प्यार था। लेकिन बचपन की जो प्रेत-आकृति उनके सामने खड़ी थी उसे देख कर उनके मन में आया कि ऐसी उपहासास्पद और दीन-हीन मानवाकृति उन्होंने पहले कभी नहीं देखी थी।

उन्होंने नवागन्तुक को कुर्सी पर बैठने के लिए इशारा किया और वे रिपोर्ट पढ़ने लगे। लोग उसके नाम का अन्तिम भाग भूल चुके थे और उसे केवल एडी नाम से जानते थे। वह न्यूपोर्ट न्यूज़ गोदी-क्षेत्र के निकट एक गन्दी बस्ती में जन्मा था। वह चार वर्ष का भी नहीं हुआ था कि उसके माता-पिता फ़्लू की बीमारी से चल बसे। तट से सटे मकानों में वह पशुवत् धक्के खाता हुआ कभी एक परिवार में पलता रहा तो कभी दूसरे में।

कठिनाइयों ने उसकी इच्छाशक्ति और चालाकी को धार दी। आठ वर्ष की आयु में ही वह लड़कों की एक टोली का मुखिया बन गया। इनमें कुछ लड़के उससे दुगुनी उम्र के थे। पड़ोस के वयस्क अपराधियों के कुसंग में पड़ कर एडी की अपराध-वृत्ति और बढ़ी तथा अपराध के क्षेत्र में वह उन वयस्कों को भी मात देने लगा। प्रत्येक अपराध की योजना वह उसकी तमाम बारीक़ियों में जाकर बनाता था। क़ानून के चंगुल में फँसने से छह महीने पहले उसकी सरदारी को उसकी टोली के एक नये सदस्य ने चुनौती दी।

"तुम स्वयं कुछ नहीं करते। तुम सरदारों जैसा काम नहीं करते।"

"मैं तुम्हें दिखा दूँगा" एडी ने कहा, "मैं ऐसा काम कर दिखाऊँगा जिसे करने की हिम्मत तुममें नहीं होगी। मैं एक बैंक को लूटने जा रहा हूँ।"

वह बैंक एक पुराने ढंग के भवन में स्थित था। जब अधिकारी क्लर्क दोपहर का भोजन कर रहे थे तब एडी सबकी नज़र बचाता हुआ वहाँ प्रविष्ट हुआ और खजांची वाले कक्ष की उस खिड़की पर पहुँचा जहाँ कोई कर्मचारी तैनात नहीं था। वह इतना छोटा था कि खिड़की तक उसकी ठुड्डी ही पहुँच पा रही थी। उसने खिड़की में अपने मटमैले हाथ डाले, नोटों का एक बण्डल झपटा और उसे अपनी जैकेट में छिपा लिया। फिर वह टहलता हुआ बाहर निकला ताकि २०० डॉलरों की उस लूट में से अपने साथियों को उनका हिस्सा दे सके। लेकिन उसका यह कारनामा औरों से छिपा ही रह गया क्योंकि बैंकवालों ने इसे खुले-आम स्वीकार करना अपने लिए लज्जाजनक समझा और वह अख़बारों की सुर्ख़ियों में नहीं आ पाया।

उसके साथियों ने उसकी खिल्ली उड़ाते हुए कहा, "तुम यों ही शेखी बघार रहे हो। तुम्हें यह धन कहीं पड़ा हुआ मिला होगा।"

इसके जवाब में एडी कुछ दिनों के लिए ग़ायब हो गया। किसी ने उसे रिवॉल्वर बेचा था और वह उससे शहर के बाहर जाकर निशाना साधने का अभ्यास कर रहा था।

अब उसने जो कुछ किया, अख़बारों के प्रथम पृष्ठ उससे भरे हुए थे। ऐसे समय, जब भीड़-भाड़ नहीं थी, वह दुबकता हुआ एक रेस्तराँ में गया, उसने भयभीत रेस्तराँ-कर्मचारी की ओर पिस्तौल तानी और दिन-भर की कमाई उसके हाथों में थी। फिर एडी ने एक भय-कम्पित दर्ज़ी की जेब से नोटों की गड्डी निकाली। उसका तीसरा शिकार कैंडी बेचने वाली एक वृद्ध महिला थी। उसे पैसे उठाते हुए देख कर वह महिला बोली, "रख दो उसे। नहीं तो तुम्हें मज़ा चखा दूँगी।" वृद्धा ने झपट कर उसके हाथ से पिस्तौल छीन ली और उसे बाल पकड़ कर खींचा। उसने जी-जान से कोशिश की कि उसकी जकड़ से मुक्त हो जाये। वह शायद उसे जान से भी मार देता, लेकिन वृद्धा की चीख-पुकार सुन कर पुलिसवाले दौड़ आये। इस प्रकार एडी "बालनगर" सुधार-गृह में पहुँच गया।

रिपोर्ट को रखते हुए फ़ादर फ़लैनैगन ने एडी की ओर नज़र घुमायी।

धुँधली पड़ती हुई रोशनी में एडी हिले-डुले बिना बैठा हुआ था। उसका सर झुका हुआ था जिससे उसके क्षुब्ध चेहरे को देख पाना सम्भव न था। फ़ादर जब उसे देख ही रहे थे तभी उसने अपनी जेब से सिगरेट का कागज़ और तम्बाकू निकाला, सिगरेट तैयार की और उसे सुलगाया। फिर एक गहरा कश लेकर धुँआ मेज़ के उस पार फेंका।

उसकी लम्बी पलकें एक क्षण के लिए यह देखने को ऊपर उठीं कि उसकी उक्त कार्रवाई की फ़ादर पर क्या प्रतिक्रिया हुई।

"एडी", फ़ादर ने कहा, "तुम्हारा यहाँ स्वागत है। इस स्थान का प्रबन्ध पूरी तरह तुम्हारे जैसे लड़के ही करते हैं। यहाँ एक लड़का मेयर है तो दूसरा नगर-पार्षद और तीसरा पुलिस प्रमुख।"

"जेल कहाँ है?" एडी ने गुर्राते हुए सवाल किया।

"जेल हमारे यहाँ नहीं है। तुम पहले स्नान करो, फिर भोजन परोसा जायेगा। कल से तुम स्कूल में पढ़ना शुरू करोगे। हम दोनों सच्चे दोस्त बन सकते हैं—यह बिलकुल तुम पर निर्भर करता है। मुझे आशा है कि किसी-न-किसी दिन मैं तुम्हें अपना जिगरी दोस्त बना सकूँगा। मैं जानता हूँ कि तुम एक अच्छे लड़के हो।"

उत्तर में एक अविश्वासपूर्ण हुंकार ही सुनायी दी।

अगली प्रातः लगभग दस बजे फ़ादर फ़लैनैगन के कार्यालय का द्वार खुला और उनका नया शिष्य इठलाता हुआ वहाँ आया। उसके बाल करीने से काटे गये थे और कंघी की गयी थी, और वह साफ़-सुथरा दिख रहा था। उपेक्षा भाव से उसने एक अध्यापक द्वारा दिये गये कागज़ के टुकड़े को मेज़ पर फेंका। उसमें लिखा हुआ था, "प्रिय फ़ादर फ़लैनैगन! हमने आपको हज़ारों बार यह कहते हुए सुना है कि कोई भी लड़का ऐसा नहीं है जिसे सर्वथा बुरा कहा जाये। क्या आप कृपया बतायेंगे कि इस लड़के को आप क्या कहेंगे?"

फ़ादर फ़लैनैगन जब कक्षा में गये तो उन्होंने वहाँ वातावरण में तनाव पाया। अध्यापक ने उन्हें बताया कि एडी प्रायः एक घण्टे तक अपनी सीट पर चुपचाप बैठा रहा; फिर सहसा वह टहलने लगा और साथ ही अनाप-शनाप बकने लगा तथा हाथ आयी सभी चीज़ें फ़र्श पर फेंकने लगा। अन्ततः उसने एक दवात फेंकी जो सिसरो की प्रतिमा पर जा लगी।

एडी को उसकी सीट पर बिठा कर फ़ादर फ़लैनैगन ने अध्यापक से क्षमा माँगी और कहा :

"यह मेरी भूल थी। मैंने उससे यह नहीं कहा था कि वह दवात आदि न फेंके। उस पर निस्सन्देह बालनगर के नियम वैसे ही लागू किये जायेंगे, जैसे कि वे हम सब पर लागू होते हैं। लेकिन उसे पहले इनके बारे में जानकारी देनी है। हम कभी भी न भूलें कि एडी एक अच्छा लड़का है।"

"क्या कहते हैं! मैं अच्छा लड़का हूँ!" एडी चीखा।

एडी ने न तो किसी हमउम्र को दोस्त बनाया न किसी अध्यापक को। और फ़ादर फ़लैनैगन के प्रति तो उसने सबसे ज़्यादा अपमानजनक विशेषण सुरक्षित रखा—"निकृष्ट प्रार्थनारत क्रिश्चियन!" अपना ख़ाली समय वह चोरी-छिपे घूमने-फ़िरने में बिताता और भाग निकलने की तरक़ीबें खोजता रहता। व्यायामशाला और बेज़बॉल तथा फुटबॉल के मैदान में वह सबसे अलग-थलग खड़ा रहता और बुड़बुड़ाता, "क्या बचकाने खेल!" उस पर न तो समवेत गायन का प्रभाव पड़ता न बैंड-बाजे का। खेतीबाड़ी का काम उसे उबाऊ लगता। इस तरह छः महीने बीत गये और इस बीच एक बार भी उसके ओंठों पर न हँसी आयी न आँखों में आँसू छलका। शीघ्र ही "बालनगर" में यह सवाल उछाला जाने लगा कि क्या फ़ादर फ़लैनैगन को परास्त करने वाला कोई एक व्यक्ति मिल गया है?

फ़ादर ने अध्यापिकाओं से पूछा, "क्या एडी कुछ सीख रहा है?"

"वह जैसे-तैसे अ-ब-स सीख रहा है" उन्होंने कहा, "दरअसल वह जितना दिखा रहा है उससे ज़्यादा ही सीख रहा है। लेकिन उसका मन घृणा से परिपूर्ण है।"

यह मुश्किल पैदा करने वाला पहला लड़का नहीं था जिससे फ़ादर को निबटना पड़ रहा था। एक छोटा लड़का ऐसा था जिसने अपने पिता पर गोली चला दी थी क्योंकि पिता उसकी माँ को पीटता रहता था। वह अपने पिता का हत्यारा अवश्य था, लेकिन अपने मातृ-प्रेम की ख़ातिर। जब फ़ादर को यह बात समझ में आ गयी तो उन्हें उसको सुधारने में कठिनाई नहीं हुई थी। ऐसे ही, उन्होंने सोचा, एडी के मामले में भी कुछ होना चाहिये जो उसे सुधारने की कुञ्जी साबित हो सके।

"लगता है मुझे नियम-पुस्तिका रद्दी की टोकरी में डाल देनी होगी"

फ़ादर ने मन ही मन ही कहा, "और इस नन्हें शैतान को प्यार के अत्याचार द्वारा सुधार की राह पर खींचना होगा।"

अन्य लड़के और अध्यापक इस नयी विधि को ऐसी नज़र से देख रहे थे मानों वह किसी खेल का मुक़ाबला हो जिसमें स्थानीय टीम फ़ादर फ़लैनैगन हों। उन सप्ताहों और महीनों को याद करते हुए, जिनमें यह योजनाबद्ध खेल चलता रहा, फ़ादर को झुरझुरी-सी महसूस होती थी : उन्होंने उसके साथ-साथ कितनी ही घटिया फ़िल्में देखीं; 'हॉट डॉग' और 'हैम्बर्गर' खाया, 'कैंडी बार' का स्वाद चखा, आइसक्रीम खाई और ठण्डे पेय पदार्थों को उदरस्थ किया एडी की बदौलत। फिर भी एडी ने ऐसा कोई संकेत नहीं दिया कि उसे इनमें से किसी भी काम में रस आ रहा है। ग्रीष्म ऋतु में बड़े सवेरे, पाइन और जंगली लौंग की सुगन्धि से युक्त वातावरण के बीच वह अपनी चिर-परिचित गम्भीर मुद्रा में झील तक जाता और ट्राउट मछली को काँटे में फँसाता, लेकिन उसके चेहरे पर ख़ुशी की कोई सलवट नहीं दिखती। एक प्रकार की गहन उदासीनता उसका स्थायी भाव बन चुकी थी और वह दिनोदिन और चुप्पा होता जा रहा था।

इस दुःखदायी प्रयोग के अन्तिम दिनों में केवल एक बार फ़ादर और वह बालक एक-दूसरे के निकटतर आये। ओमहा में सड़क पार करते हुए एडी ग़लत दिशा में देख रहा था कि अचानक उसकी ओर एक ट्रक आता हुआ दिखा। इस पर फ़ादर फ़लैनैगन ने लपक कर उसे ट्रक की चपेट में आने से बचा लिया। इस पर एडी की विस्मित भूरी आँखों में एक क्षण के लिए कृतज्ञता की रोशनी चमकी, लेकिन अगले ही क्षण वह बुझ गयी और फिर वही निष्प्रभ आँखें दिखने लगीं। एडी ने कोई भी भाव शब्दों में प्रकट नहीं किया। फ़ादर फ़लैनैगन जैसे विश्वासी को भी यह लगने लगा कि एडी के रूप में उनके सम्मुख एक जन्मजात उद्धत आकृति थी जिसे सुधार पाना उनके वश के बाहर था। उनकी निराशा अपनी चरम सीमा पर पहुँच रही थी कि वसन्त की एक प्रातः एडी उनके कार्यालय में आया और साहस के साथ उसने एलान किया कि वह उनसे दो-दो हाथ कर लेना चाहता है। उसकी भूरी आँखें उस समय क्रोध से उत्तप्त हो रही थीं।

"आप मुझ पर जाल डालने की कोशिश करते रहे हैं" एडी ने कहा, "लेकिन मैं आपके चंगुल में फँसने वाला नहीं। अगर आप सामान्य ढंग

से बर्ताव करते तो शायद मैं आपके आगे झुक जाता। मैं क़रीब-क़रीब आपकी पकड़ में आने ही वाला था। लेकिन पिछली रात मैंने विचार करना शुरू किया और मैंने पाया कि सम्पूर्ण परिस्थिति कैसी उपहास-योग्य है..."

एडी का जो रूप इस समय प्रकट हो रहा था वह भयंकर ईमानदारी और पौरुष के सम्मिश्रण का संकेतवाहक था: उसके आचरण में धृष्टता नहीं बल्कि हताशा प्रकट हो रही थी। फ़ादर ने कुछ आशान्वित होकर देखा कि एडी के कठोर ओठों पर पहली बार एक कम्पन व्यक्त हो रहा है।

"फ़ादर फ़लैनैगन, आप एक झूठे व्यक्ति हैं।"

"एडी, तुम या तो इसे साबित करो या अपना मुँह बन्द रखो।"

"ठीक है। मैंने आज एक सिस्टर को घूँसा जमाया। अब मेरे बारे में आपका क्या ख़याल है?"

"मेरा अब भी यह कहना है कि तुम एक अच्छे लड़के हो।"

"देखिये, मैंने कहा था न? आप लगातार यह बात दुहराते जा रहे हैं हालाँकि आप जानते हैं कि यह झूठ है। यह सच नहीं हो सकता। क्या इससे यह साबित नहीं होता कि आप झूठे हैं?"

(हे भगवान्! यह तो ईमानदारी के साथ प्रस्तुत किया गया तर्क है। मैं कैसे इसका प्रत्युत्तर दूँ? कैसे मैं इसमें और प्रभु, आपमें, विश्वास को अडिग सिद्ध करूँ? एडी के मामले में या तो यह क्षण निर्णायक होगा या फिर कभी कुछ नहीं हो पायेगा। भगवन्, मुझ पर कृपा करो ताकि मैं सही बात कह सकूँ।)

फ़ादर फ़लैनैगन ने अपना गला साफ़ किया और कहा:

"एडी, तुम इतने होशियार तो हो ही कि जान सको कि कोई बात कब तर्क से सिद्ध हो सकती है। एक अच्छा लड़का किसे कहेंगे? उसे ही कहेंगे न जो आज्ञाकारी हो?"

"जी हाँ।"

"तो, तुमने सदा आज्ञाकारिता ही तो दिखायी है। गड़बड़ बस इतनी हुई है कि तुम्हें ग़लत अध्यापक मिले—सागर-तटीय ठग और नुक्कड़ों के "दादा" लोग।" लेकिन तुमने निश्चय ही उनकी आज्ञा का पालन किया है। उनके सिखाने पर तुमने हर तरह के ग़लत काम और बेहूदा हरकतें की हैं। इसी प्रकार, अगर तुम यहाँ के अच्छे अध्यापकों की आज्ञा का पालन

करोगे तो नतीजा बहुत बढ़िया निकलेगा। लाजवाब सच्चाई के इन शब्दों ने मानों उस कमरे में मौजूद किसी प्रेतात्मा को दूर भगाने के मन्त्र जैसा काम किया। पहले-पहल तो वह नन्हा पहेलीनुमा बालक स्तब्ध रह गया। फिर उसकी उजाले में दमकती भूरी आँखों में एक अत्यन्त विश्रामदायी भाव उतर आया। वह धीरे-धीरे मेज़ की बगल में फ़ादर फ़लैनैगन के निकट जा पहुँचा जिनकी आत्मा भी विश्राम का प्रसाद पाने को व्याकुल थी। उन्होंने अपनी बाँहें एडी की ओर बढ़ायीं : एडी उनमें सिमट गया और उसका अश्रुपूरित आनन उनके वक्षस्थल में दुबक गया।

बहुत दिन पहले की घटना है यह। दस वर्ष तक एडी "बालनगर" में रहा। फिर अपनी कक्षाओं का सर्वोत्तम विद्यार्थी बनने के बाद उसने अमरीका की नौसेना में प्रवेश किया। रक्त-रञ्जित सागर-तटों पर उसे तीन बार विशेष तरक़्क़ी मिली।

फ़ादर फ़लैनैगन कहते हैं, "उसकी छाती ईनामी तमगों से ढकी रहती है। इसमें कोई आश्चर्य नहीं, क्योंकि वह अदम्य साहसी है। लेकिन भगवान् की दया से उसमें एक और महान् सद्गुण है : उसे अपने सहकर्मियों का प्यार मिला हुआ है। वह सभी का "प्रिय बन्धु" है। वह एक अद्वितीय क्रिश्चियन है, और उसके जैसा तन-मन का मज़बूत व्यक्ति मेरे देखने में नहीं आया!"

—फूल्टन उर्सलर

उनकी कृपा का स्पर्श कठिनाई को सुयोग में, विफलता को सफलता में और दुर्बलता को अविचल बल में परिणत कर देता है। भगवती माँ की कृपा परमेश्वर की अनुमति है, आज हो या कल, उसका फल निश्चित है, पूर्वनिर्दिष्ट अवश्यंभावी और अनिवार्य है ।

— श्रीअरविन्द

अमरनाथ शिक्षण संस्थान, मथुरा (उ.प्र.)

फोन— 0565—3240006, 9358340375

Website : anvaschool.org, Email-amarnath.mtr1@rediffmail.com

Date of Publication: 1st April 2018
Rs. 15.00 (Monthly)
Registered: PY/47/2018-20
RNI No.18135/70

A school by The Vatika Group vatika

Nature Friendly

"My child is in Grade 2. My son's journey with this school started 3 years back.

What really drew me to the school at the first instance is the calmness that prevails in the atmosphere!

Being a doctor myself, it was very important for me that the school environment should be healthy – class rooms in MatriKiran are the most nature friendly, spacious, well ventilated, they open out to green spaces... perfect to stay in communion with nature."

Dr. Nidhi Gogia
Mother of Soham Sharma, Grade 2

ADMISSIONS OPEN
Academic Year 2017-18

ICSE Curriculum

MatriKiran
www.matrikiran.in

Junior School SOHNA ROAD
Pre Nursery to Grade 5

Senior School VATIKA INDIA NEXT
Grade 6 to Grade 9

Junior School
W Block, Sec 49, Sohna Rd, Gugaon
+91 124 4938200, +91 9650690222

Senior School
Sec 83, Vatika India Next, Gugaon
+91 124 4681600, +91 9821786363